अब ज़रा तुलसीदास जी की समाजवादी उपन्यास-कला का लुत्फ़ भी उठाइये। राम, सीता और लक्ष्मण के कोमल व्यवहार का प्रभाव चित्रकूट के जंगली निवासियों पर जैसा और जिस शीघ्रता से पड़ा है उसे हम नीचे कवि के शब्दों में उन्हीं कोल-किरातों के मुख से प्रकट कराते हैं। असभ्य जातियों को सभ्य बनाने में उपर्युक्त व्यवहार मूल मन्त्र-रूप में प्रयुक्त होना चाहिये। अँगरेज़ी साहित्य के जानकारों को बड़ा आनन्द आयेगा यदि वे टेम्पेस्ट (Tempest) नामक नाटक में प्रास्पेरो के कैलिबन के प्रति किये गये व्यवहार की तुलना एवं समानता तथा अन्तर की परख उस व्यवहार से करेंगे। अभी राम जी को चित्रकूट में आये कुछ बहुत दिन नहीं हुए जब अयोध्या और जनकपुर के राजसमाज वहाँ पहुँच गये। कवि लिखता है—

कोल किरात भिल्ल बनवासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी॥
भरि भरि परनपुटीं रचि रूरीं। कंद मूल फल अंकुर जूरीं॥
सबहि देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥
कहहिं सनेहँ मगन मृदु बानी। मानत साधु पेम पहिचानी॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥
हमहि अगम अति दरसु तुम्हारा। जस मरुधरनि देवधुनि धारा॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा॥

यह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु॥
हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु॥

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥
देब काह हम तुम्हहिं गोसाँई। ईंधनु पात किरात मिताई॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥

विश्व-साहित्य में रामचरित मानस का स्थान

महात्मा गांधी का कहना है कि उन्हें किसी अन्य वस्तु से उतना उत्साह नहीं होता जितना गीता तथा तुलसीकृत रामायण के गान से। मिस मेयो ने जब अपनी 'मदर इंडिया' नाम्नी पुस्तक में भारतीय जनता पर यह आक्षेप किया कि वह साहित्यिक एवं नाटकीय कलाओं से अनभिज्ञ है तो इँगलैंड की एक यूनीवर्सिटी के एक अँगरेज प्रोफ़ेसर ने इस अनुचित कटाक्ष का उत्तर देते हुए बड़े जोर के साथ लिखा कि तुलसीकृत रामायण एक विचित्र नैतिक पुस्तक (Singularly moral book) है जिसके नाटकीय दृश्य उत्तरीय भारत के गाँव-गाँव में जाड़ों के समय इस उत्साह से खेले जाते हैं जिसकी कोई हद नहीं। स्व० लाला लाजपतराय जी ने भी अपनी 'दुखी भारत' (Unhappy India) नाम्नी पुस्तक में उन प्रोफ़ेसर महोदय के उपर्युक्त लेख का पूरा अवतरण दिया है। अर्नेष्ट उड महोदय ने भी मिस मेयो को उत्तर देते हुए अपनी 'Englishman defends Mother India' नाम्नी पुस्तक में राम-चरितमानस की बड़ी प्रशंसा की है और साफ़ लिख दिया है कि तुलना में वह पुस्तक लातीनी (Latin) और यूनानी भाषा के सर्व-मान्य ग्रन्थों से भी बढ़कर ठहरती है। सर ज्यॉर्ज ग्रिअर्सन महोदय की गणना तो तुलसीदास जी के उपासकों में की ही जाती है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि मेरे लिये तो तुलसीदास पूर्वी प्रदेशों में एक विशेष कवि (The Poet in the East) हैं और दूसरी जगह उन्होंने तुलसीदास को एशिया के आधे दर्जन बड़े लेखकों में माना है। विन्सेंट स्मिथ-जैसा ऐतिहासिक तुलसीदास को अपने समय का सबसे बड़ा आदमी मानते हुए साफ़ लिखता है कि

आनन्द है, परन्तु कालिदास या उर्दू कवियों की तरह तुलसी जी ने नैतिक सीमाओं का उल्लंघन नहीं होने दिया। उनके हास्य-रस में आदर्शवाद का घृणायुक्त मखौल नहीं है और न उनकी करुण नाटकीय कला में आदर्शवाद को काँच की तरह चकनाचूर किया गया है। इन सब बातों के लिये हमारे कवि की युक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं।

साधारण रहस्यों के प्रकटीकरण के लिये तो कवि हमारे साथ हर समय मौजूद ही है। गूढ़ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक रहस्यों के उद्‌घाटन के लिये तीन आधिदैविक जोड़े बराबर रंगमंच के उस स्थान पर जो हमारी दृष्टि की अन्तिम सीमा पर है, आते और संकेत करके चले जाते हैं। प्रभाव वैसा ही उत्तम होता है जैसे नये नाटकों और फिल्मों में द्रौपदी चीर हरण के समय एक प्रकाश के चक्र में भगवान् कृष्ण की उस मूर्ति का जो अपने गले के पटके को इस प्रकार फेरती जाती है मानो भगवान् चीर को बढ़ा रहे हैं। ये तीनों जोड़े हैं—शिव पार्वती, काकभुशुण्डि-गरुड़ और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज। स्व० लाला सीताराम अवधवासी ने तो अपने एक लेख में इन तीनों जोड़ों की पारस्परिक वार्ताओं के भिन्न दृष्टिकोणों की विवेचना तक कर दी थी। मेरे पास वह लेख नहीं और न मुझे याद रह गया है, परन्तु उपर्युक्त दृष्टिकोणों के अन्तर विचारणीय अवश्य हैं।

अब युक्तियों के सम्बन्ध में केवल इतनी सी बात बाकी है कि जब Back to Methuselah नामक महाकाव्यात्मक नाटक के लिये बड़ी विस्तृत (लगभग १५० पृष्ठों की) प्रस्तावना अध्यात्म-जीव-विज्ञान के रहस्यों को खोलने के हेतु लिखी गयी है तो सारे आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रहस्यों के प्रकटीकरण के लिये रामायण की प्रस्तावना और उपसंहार को किसी प्रकार बड़ा नहीं कहा जा सकता। और फिर लुत्फ यह कि तुलसी जी के प्रसंग प्रत्येक

उनकी महानता सम्राट् अकबर से भी अधिक है। लाला हरदयाल से राष्ट्रीय लेखक ने भी 'प्रभा' (कानपुर) द्वारा प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा था कि यदि मुझसे पूछा जाय कि प्राचीन हिन्दी-साहित्य में कौन-सी पुस्तक 'राष्ट्रीय' बनाये जाने योग्य है तो मैं बेधड़क कहूँगा कि वह पुस्तक तुलसीकृत रामायण है, जिसमें राष्ट्र एवं देश-सङ्गठन के सारे मूलमन्त्र मौजूद हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध कलाकार श्रीअवनीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है कि इसी पुस्तक ने समूचे भारत को स्वरदान दिया है। इसलामी लेखकों ने भी तुलसीदास जी की कम तारीफ़ नहीं की। खानखाना का यह दोहा तो प्रसिद्ध ही है—

सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होइ।
गोद लिएँ हुलसी फिरैं तुलसी-सो सुत होइ॥

'मामुकीमाँ' नामी फ़ारसी पुस्तक का रचयिता कवि 'विसाली' तो तुलसीकृत रामायण की कथा सुनकर 'शाहज़ादये-अवध' की सुन्दरता का उपासक ही बन गया था। 'मामुकी माँ' अयोध्या में ही गायी गयी थी, जिसका यह पद कवि के समस्त भावों को प्रकट करता है—

मामुकीमाने-कूय-दिलदारेम, रुख़ व दुनिया व दीं नमी आरेम।

'हम अपने प्रेमिक की गली में रहते हैं और संसार एवं धर्म से विमुख हैं।'

मैंने 'माधुरी' द्वारा प्रकाशित अपने एक लेख में रामायण पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार करने की चेष्टा की थी, पर आज मैं अपने विचार परिधि को केवल साहित्य तक परिमित रखना चाहता हूँ और यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि तुलसीदासजी का ऋण समूचे साहित्य-संसार पर है, जिसमें पूर्व-पश्चिम सम्बन्धी संकुचित विभाग की गुंजाइश ही नहीं है।

अब क्योंकि मैं लेख का मुख्य भाग शुरू करने जा रहा हूँ, अतः कर्तव्य समझता हूँ कि अपने श्रद्धेय आचार्य मौलवी नयाज़-मुहम्मद को मन-ही-मन प्रणाम करूँ। उन्हें रामायण को क़ुरान के साथ ही पढ़ते देखकर और उनका उपदेश सुनकर ही (१८९९-१९०० ई० में मँडियाहूँ, ज़ि० जौनपुर के तहसीली स्कूल में) पहले-पहल मेरे हृदय में हिन्दी भाषा के गौरव तथा रामायण के महत्त्वसम्बन्धी भावनाएँ जाग्रत् हुई थीं।

बीसवीं शताब्दी का साहित्यिक प्रश्न

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से विश्व-साहित्य-मण्डल के मस्तिष्क में एक प्रश्न बड़े जोरों से घूम रहा है। वह यह कि साहित्य-संसार में मानवी विचारों के प्रकटीकरण का मुख्य साधन क्या होना चाहिये। नाटक का ढाँचा इतना संकुचित समझा जाता है कि उसमें चरित्रविकास के हर अंग का निर्वाह असम्भव है। कथा का भी बहुत-सा अंश किसी-न-किसी चरित्रद्वारा कृत्रिमतया कहलाना पड़ता है। 'स्वगत' वार्ता आदि की योजनाएँ भी कृत्रिम ही हैं, पर उनके बिना सूक्ष्म आध्यात्मिक एवं नैतिक समस्याओं पर प्रकाश भी कैसे पड़े? कविवर शेक्सपियर ने कवि के व्यक्तित्व को नाटक से बिलकुल हटाकर उसे भूलभुलैयाँ ही बना दिया, यहाँ तक कि ब्रैडले और मिलर महोदय को भी कहीं कहीं यह लिखना पड़ा कि उसके दुःखान्त नाटकों के अन्धकार में बहुधा हमें राह नहीं सूझती। बेचारी महाकाव्य-कला तो भौतिक विज्ञान की ठोकर से उन्नीसवीं शताब्दी में ही चकनाचूर हो चुकी थी। इसीलिये ग़रीब टेनीसन की उड़ान 'आइडिल्स आफ़ दी किंग' पुस्तक में उस समय के ग़ुब्बारों की उड़ान से ऊँची न जा सकी। आर्थर जैसे आधिदैविक व्यक्ति के लिये वह इससे अधिक न लिख सका कि 'वह एक बड़ी गहराई से दूसरी बड़ी गहराई में

जाता है ' (From the Great Deep to the Great Deep he goes) ।

इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण तथा सार्वजनिक शक्ति के बढ़ने की वजह से उपन्यास का रवाज चल पड़ा, परन्तु क्योंकि यह कला सहल थी और कहानी कहने-सुनने का चस्का इतना बढ़ा कि उपन्यासों का बढ़ियाल एक तूफ़ाने-बेतमीज़ी बन गया, अतः बहुतायत के कारण भले और बुरे में जाँच करना कठिन हो गया। ऋषियों ने मन का स्वभाव चञ्चलता बताया था और सारी शिक्षा का आदर्श यह रक्खा था कि उस चञ्चलता को दूर किया जाय, पर उपन्यासों ने तो मन को और भी चकर-गिन्नी खिला दिया। हाँ, मेरी कोरेली, विक्टर ह्यूगो, काउंट टाल्सटाय और हमारे प्रेमचन्द जैसे समाजवादी-मनोवैज्ञानिक (Socio-psychological) औपन्यासिकों ने सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर प्रकाश डालने की कोशिश की है और कहीं-कहीं उनकी उड़ान आधिदैविक एवं आध्यात्मिक प्रश्नों तक भी पहुँच गयी है। परन्तु है यह सब समुद्र में सिर्फ़ दो चार छोटी नौकाओं का सहारा सा ही ! बर्नार्डशा ने अपने नाटकों में कुछ आधिदैविक तथा आध्यात्मिकवाद के दृश्य भी रक्खे हैं और कवि की आलोचनाएँ भी, परन्तु उसके वैसे दृश्य मस्तिष्कीय हैं और आलोचनाएँ गद्यात्मक तथा रूक्ष। कहीं कहीं तो यदि कोई नाटकीय चरित्र एक दो पद कहता है, तो आलोचक पृष्ठ के पृष्ठ रंग डालता है। यही हाल बहुधा सभी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों का है। पण्डित अमरनाथ झा ने अभी अपने एक अँगरेजी लेख में ठीक ही लिखा था कि कहीं कहीं एक बटलोही के उफान पर पृष्ठ के पृष्ठ स्याह कर दिये जाते हैं।

अब विचारणीय यह है कि जो साँचा तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरितमानस' के लिये रक्खा है वह इन जटिल समस्याओं को कहाँ तक हल कर सकता है। यदि आप बालकाण्ड के प्रारम्भिक

अंश को प्रस्तावना और उत्तरकाण्ड के अन्तिम अंश को उपसंहार समझ लें तो बीच का बृहद् अंश एक ऐसे रूप में दिखायी पड़ेगा जिसमें उपर्युक्त कलाओं के सभी गुण तो मौजूद हैं, पर उनका दोष एक भी नहीं। महाकाव्य और नाटक की कलाओं को इस सुन्दरता से मिलाया गया है कि विश्वसाहित्य में वैसा कहीं बन नहीं पड़ा। इस विषय पर आगे चलकर विस्तार से लिखने का विचार है, अतः यहाँ इतना ही कह देना काफ़ी है। नाटकीय कला का तो कहना ही क्या? दशहरे के समय रामलीलाओं की धूम-धाम से कौन वाकिफ़ नहीं है?

परन्तु कवि हमारे साथ बराबर मौजूद है—रंगमंच के ऐसे कोने पर कि नाटकीय चरित्र उसे देख न सकें, पर हमारे लिये तो वह पथ प्रदर्शक बनकर घटनाओं, वार्ताओं और पात्रों पर आलोचनाएँ करता जाता है। परिणाम यह कि हम कभी धोखा नहीं खाते। अन्यथा परिणाम यह होता है कि शेक्सपियर ने 'हैमलेट' लिखा तो इस हेतु से कि वह भौतिकवाद की स्वार्थपूर्ण भयानकता को दिखाकर हमारे हृदय में आदर्शवादी हैमलेट के लिये करुणा का प्रवाह उत्पन्न करे, जिसका कोमल हृदय भौतिकवादी ठोकर से चूर-चूर हो गया था, पर आज 'हैमलेट' के पढ़ने वाले बहुधा यही दो वाक्य याद रखते हैं—

(१) आत्मा हम सबको कायर बना देता है (Conscience makes cowards of us all), और—

(२) कोई चीज़ भली या बुरी नहीं, परन्तु हमारा विचार ही उसे वैसा बनाता है (Nothing is good or bad, but thinking makes it so)। हम अपनी 'कल्याण' वाली लेख माला में बहुत विस्तार से लिख चुके हैं, अतः यहाँ इतना ही अलम् है। इसी दोष को बचाने के लिये यवन कलाकारों ने गायक समूह

(chorus) की प्रथा रक्खी थी, जो समय-समय पर आकर आलोचनाएँ करता जाता था। सामाजिक-मनोवैज्ञानिक औपन्यासिकों तथा बर्नार्ड शा-जैसे नाटकीय कलाकारों का आदर्श भी यही है, परन्तु अन्तर यह है कि यूनानी कलाकारों का साधन कृत्रिम है और आधुनिक उपन्यासकारों तथा नाटककारों की कला गद्यात्मक और रूखी-सूखी! तुलसीदास जी का साधन और कवि रूप में सदा विद्यमान रहना स्वाभाविक है और उनकी आलोचनाएँ जहाँ आध्यात्मिक या आधिदैविक भी हैं वहाँ भी पद्यात्मक और सरस हैं। रामायण में ऐसे सहस्त्रों उदाहरण मिल सकेंगे। यहाँ नमूने की रीति पर सिर्फ दो दिये जाते हैं। अयोध्या के उदार वातावरण में स्वार्थवाद का विष मन्थरा और कैकेयी द्वारा प्रविष्ट हुआ और ऐसा नैतिक सङ्कट उत्पन्न हुआ कि सारी अयोध्या भय से काँप उठी। भयानक और करुण रसों की कविता अयोध्याकाण्ड से अधिक उत्तम रूप में कदाचित् ही कहीं और मिल सके। कवि ने लिखा है—

घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥

यह वही अयोध्या है जिसका सुन्दर चित्र अयोध्याकाण्ड के शुरू में ही खींचा गया है। संकेतार्थ एक चौपाई दी जाती है—

सब विधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद मुख चंदु निहारी॥

कैकेयी और मंथरा की दुष्टता के परिणाम को देखकर मानो विश्वास अयोध्या से उठ गया है। दशा यह है कि—

.... । डरपहिं एकहि एक निहारी॥

दूसरा उदाहरण देखिये राजतिलक होनेवाला है। अयोध्या में चारों ओर धूम मच रही है। गुरु वशिष्ठ भी अपना अन्तिम उपदेश देकर अभी गये हैं। भगवान् राम एक विचित्र ही विचार-प्रवाह में पड़ गये। कवि लिखता है—

.... । राम हृदय अस विसमय भयऊ ॥
जनमे एक संग सब भाई । भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करन वेध उपवीत विआहा । संग संग सब भए उछाहा ॥
विमल वंस यहु अनुचित एकू । वंधु विहाइ वड़ेहि अभिषेकू ॥

क्या कोई कृत्रिम ' स्वगत ' वार्ता इस मूक विचार-प्रवाह की तुलना में टिक सकती है ? यहीं तो काव्य की तीव्र ' एक्सरेज़ ' का काम है । इसीलिये संस्कृत में कवि की व्याख्या करते हुए उसे क्रान्तिदर्शी कहा है । अव स्वयं कवि की आलोचना देखिये—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई । हरत भगत मन कै कुटिलाई ॥

भक्त पक्ष को इस समय जाने दीजिये, तो भी भगवान् राम की यह ' पछतान ' कितनी सुन्दर है । भ्रातृ-प्रेम ने राजनीति को भी परास्त कर दिया है और विमल वंश का सुन्दर राजनीतिक सिद्धान्त उनको इस समय अनुचित प्रतीत होता है । यही वह विचार-प्रवाह है जिसने भरत की सहायता से डूवती हुई अयोध्या को एक वार फिर उवार लिया । इस विचार-प्रवाह का प्रकटीकरण कितना आवश्यक है, यह आप समझ गये होंगे । पर ऐसा प्रवाह सदा मूक ही होगा । यदि ज़रा ज़वान खुल जाती तो राजनीतिक गड़बड़ होने का भय था । सच है, मन्त्री, पदाधिकारी, राजसभा के सदस्य चाहे जितने हों, परन्तु दो राजा एक देश में नहीं हो सकते ।

दो शाह दर अक़लीमे न गंजंद ।

कैकेयी का राम-वनवास वाला वरदान माँगना इसी सिद्धान्त पर निर्भर था । आपने देखा, कविवर शेक्सपियर का प्रकृति-दर्पण (Holding mirror to nature) वाला सिद्धान्त भी निभ गया, कवि की आलोचना से भावों का रहस्य भी खुल गया और वाद-विवाद भी इतना लंवा चौड़ा न हुआ कि जी ऊव जाय ।

पाप करत निसि बासर जाहीं । नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ ॥
जब तें प्रभु पद पदुम निहारे । मिटे दुसह दुख दोप हमारे ॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे । तिन्ह के भाग सराहन लागे ॥

लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं ॥
बोलनि मिलनि सिय राम चरन सनेहु लखि सुखु पावहीं ॥
नर नारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा ।
तुलसी कृपा रघुबंसमनि की लोह लै लौका तिरा ॥

यह है असभ्य को सभ्य बनाने का चमत्कार । मैंने जान-बूझकर ही यह लंबा अवतरण दिया है । कारण, उसमें सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यासकलाओं का पूर्ण विकास हुआ है । अभी हाल ही में जब मैं स्व० प्रेमचन्द जी की अन्तिम कृति 'गोदान' पढ़ रहा था और उसमें प्रो० मेहता और मिस मालती की वन्य एवं ग्रामीण लोगों द्वारा की गयी पहुनाई का आनन्द लेता था तथा नागरिक एवं ग्रामीण जीवन के पारस्परिक संघर्ष का प्रभाव देखता था तो मुझे इस अवतरण वाला प्रसङ्ग बार बार याद आता था । सच तो यह है कि नवीन मस्तिष्कीय वातावरण के कारण वैसी अनुरागमय दशा का चित्रण हमारा स्वर्गीय उपन्यास-सम्राट् भी नहीं कर सका ।

क्या हमारा यह कहना उचित नहीं कि कविता का भविष्य तभी ठीक हो सकता है जब रामचरितमानस में ऊपर के बर्ते हुए सिद्धान्तों को आदर्श बनाया जाय ? अन्यथा आज हम देख क्या रहे हैं कि भावों और विचारों के छोटे छोटे टुकड़े—वे हीरा और लाल भले ही हों—थोड़ी-थोड़ी पँक्तियों की कविताओं में इधर-उधर बिखरे दीख रहे हैं । पर उनमें नौलखा हार का सुन्दर ग्रन्थन कहाँ ? सच पूछिये तो मुझे 'गज़ल' की प्रथा इतनी

सुन्दर और प्रचलित होती हुई भी कभी अच्छी न लगी। कारण, उसका एक पद दूसरे से कोई लगाव नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि रामचरितमानस सी कविता केवल मस्तिष्कीय उद्योग से लिखी नहीं जा सकती। यहाँ तो मिल्टन के कथनानुसार पहले अपने ही जीवन को काव्यमय बनाना पड़ेगा।

महाकाव्य और नाटकीय कलाओं का एकीकरण

'चाँद' में प्रकाशित अपनी एक लेखमाला में मैं उपर्युक्त विषय पर अधिक विस्तार से लिख रहा हूँ, *अतः यहाँ संक्षेप में ही लिखूँगा। सच पूछिये तो महाकाव्य और नाटकीय कलाओं के एकीकरण में हमारे कवि के सिवा और किसी को दुनिया भर में सफलता ही नहीं मिली। हाँ बीसवीं शताब्दी में इतना अवश्य हुआ है कि अध्यात्म-जीव-विज्ञान (Science of Metabiology) के विकास के कारण अब आधिदैविक व्यक्तियाँ अवैज्ञानिक नहीं मानी जातीं। इसलिये लोगों का ध्यान महाकाव्य की ओर फिर लौट रहा है। बर्नार्डशा का (Back to Methuselah) नामक नाटक एक प्रकार का महाकाव्य ही है।

फ़ारसी साहित्य में तो यह कहावत है कि 'रज़्म' (वीर रस का महाकाव्य) और 'बज़्म' (शृङ्गार रस का काव्य) एक ही कवि नहीं लिख सकता। अँगरेज़ आलोचक मिल्टन जैसे महाकवि की उड़ान को खड़ी और शेक्सपियर की काव्य-कला को पड़ी रेखा रूप में होना मानते हैं और इसीलिये वहाँ भी उपर्युक्त एकीकरण नहीं हुआ! उर्दू में 'ग़ालिब-जैसा कमाल वाला कवि 'मर्सिया' (जो महाकाव्य कला से मिलती-जुलती चीज़ है) के दो बन्द से अधिक न लिख सका और कह दिया कि भाई! इसके लिये अब दूसरा जीवन चाहिये।

---

* अब 'चाँद' बन्द हो गया है।

परन्तु कवि होता है काठिन्यप्रिय। पहले-पहल महाकवि स्पेंसर ने यह उद्योग करने का विचार किया कि उभय कलाओं का एकीकरण किया जाय। 'फ़ेयरी-कीन' नाम्नी पुस्तक के कुछ अंश इसी विचार से लिखे गये; पर काम था कठिन, अतः सङ्कल्प पूरा न हो सका। मिल्टन ने भी Paradise Lost लिखते समय पहले सारी कथा को नाटकीय 'ऐक्टों' और दृश्यों में विभाजित किया था और कहा जाता है कि सूर्य देवता के प्रति जो प्रार्थना है वह नाटक के प्रारम्भिक दृश्य की थी। परन्तु सच है कि आधार और लंब का एकीकरण आसमान और ज़मीन के क़ुलाबे मिलाने का सा कठिन काम है। महाकवि मिल्टन ने भी उसका ख़याल छोड़ दिया। वेचारे टेनीसन की छोटी उड़ान का उल्लेख तो हम पहले ही कर चुके हैं।

तुलसी का कमाल यह है कि उन्होंने राम-चरित-मानस में नाटक के भी सभी गुण निभा दिये हैं। उदाहरणार्थ यदि केवल धनुपयज्ञ को ही ले लिया जाय तो पता लग जायगा कि वह दृश्य नाटकीय कला की कसौटी पर भी कितना पूरा उतरता है। भावों, घटनाओं और चरित्रों के संघर्ष का चमत्कार विश्व-साहित्य में इससे सुन्दर मिलना कठिन है। अँगरेज़ आलोचकगण कविवर शेक्सपियर के उस दृश्य की वड़ी प्रशंसा करते हैं जिसमें 'जूलियस सीज़र' नामक नाटक में फ़िलिप्पाई की लड़ाई के निकट केसियस और ब्रूटस आदि में वार्तालाप हुआ है। प्रशंसा तो इतनी की जाती है कि उस दृश्य के नक़ल करने का प्रयत्न वहुतों ने किया, पर वरावरी कोई भी न कर सका। परन्तु यदि आप उस दृश्य को धनुप-यज्ञ के साथ पढ़ें तो पता लगेगा कि हमारे कुशल कवि की रचना के आगे वह सिर्फ़ वच्चों का खेल है। मैंने इसकी विस्तृत विवेचना अपनी 'रामायण में हास्यरस' पुस्तक में की है, जो इसी के साथ छप रही है। अतः यहाँ संकेत मात्र अलम् है। अव हम संक्षिप्ततः उन

युक्तियों पर विचार करेंगे जिनके प्रयोग द्वारा हमारे महाकवि ने उपर्युक्त एकीकरण को सफल बनाया है।

(१) नाटकीय कला के आदर्श को सामने रखते हुए तुलसी जी हर रस को उसके पूरे जोर में लिखते हैं, परन्तु महाकाव्य कला का आदर्श आगे रखते हुए हर रस को शान्त रस के शिखर पर पहुँचा देते हैं।

शृङ्गार-रस का मजा पुष्पवाटिका. धनुपयज्ञ और विवाह वाले दृश्यों में सराहनीय है और हास्य-रस की चाशनी तो शुरू से आख़िर तक मौजूद है। धनुप-यज्ञ में वीर और रौद्र रसों का प्रयोग भी अच्छा हुआ है, परन्तु कवि को अपनी कला में इतना कमाल है कि फुलवारी-लीला के भीतर भी—

प्रीति पुरातन लखइ न कोई।

—आदि छोटे-छोटे पदों द्वारा महाकाव्य का संकेत मौजूद है और धनुपयज्ञ के समाप्त होते-होते तो शृङ्गार-रस शान्त-रस के उस ऊँचे शिखर पर पहुँच गया है जिसे कवि ने सीता द्वारा यों प्रकट कराया है।

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

वीर-रस भी 'राम रमापति कर धनु लेहू' प्रार्थना पर पहुँचते-पहुँचते शान्त-रस में लीन हो जाता है। परशुराम, जो भूतकाल के विश्व-नेता कहे जाते थे और जिनमें पशुबल प्रधान था, वे अपना 'चार्ज' राम रूपी भावी नेता को दे देते हैं, जिनका आदर्श है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥

मानो राम में धीर और शील रूपी गुण ही अधिक हैं।

दुःखान्त कविताओं के सम्बन्ध में तो मैं 'कल्याण' द्वारा प्रकाशित लेखों में इतना लिख चुका हूँ कि यहाँ केवल संकेत कर

देना काफ़ी है। यदि आप अयोध्याकाण्ड को कविवर शेक्सपियर के चारों दुःखान्त नाटकों के साथ पढ़ें तो ज्ञात होगा कि इस एक काण्ड में ही उन चारों की मुख्य सामग्री मौजूद है। हाँ शेक्सपियर में केवल रोग की विवेचना है और तुलसी में उस विवेचना के साथ चिकित्सा का उद्योग भी है। उनकी काव्य कला में भरत, कैकेयी, मन्थरा, सभी के आत्माओं की शान्ति-प्राप्ति का प्रयत्न है। इतना ही नहीं, विश्वामित्र और वशिष्ट के उत्तम प्रबन्ध तथा भरत और कौशल्या के त्याग और राम जी के प्रेम के कारण वनवास से लौटने की दशा का तो कहना ही क्या, चित्रकूट से लौटने पर भी अयोध्या में शान्ति का राज्य स्थापित हो गया है।

भयानक, वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों का प्रवाह अरण्य से शुरू होकर लंकाकाण्ड तक चला गया है; परन्तु अन्त में रावण के आत्मा के हेतु भी तुलसी के महाकाव्य में शान्ति ही है। कवि लिखता है कि रावण की मृत्यु होते ही उसका तेज राम के मुख में समा गया। सच है, जिस अग्नि से चिनगारी निकली थी वहीं लौट गयी। जिस समुद्र से लहर उठी थी उसी में फिर समा गयी। हाँ, बीच की अवस्था में हमें अनेकानेक रसों के आनन्द भले ही आ गये। इसीलिये तो मैं कहता हूँ कि राम-चरित-मानस ही एक ऐसी विचित्र पुस्तक है जिसमें नवों रसों को बड़ी सुन्दरता से निभाया गया है और फिर उन्हें शान्त-रस के शिखर पर पहुँचा दिया गया है।

(२) नाटकीय दृश्यों के बीच में तुलसीदास जी बड़ी सुन्दरता के साथ छोटे-छोटे आधिदैविक दृश्यों को प्रविष्ट कर देते हैं, जिससे नाटकीय और महाकाव्य-कलाओं का एकीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ अयोध्याकाण्ड में सरस्वती जी और देवताओं की पारस्परिक वार्ता का दृश्य बड़ा ही उत्तम है। एक ओर तो सारे आधिदैविक प्रश्न सुलझ जाते हैं, परन्तु दूसरी ओर दृश्य भी इतना

बड़ा नहीं होने पाता कि उस काण्ड के करुण-रस में कोई फर्क पड़े। कवि का चमत्कार यह है कि करुण-रस के प्रवाह में पड़कर हम सभी उस दृश्य को मानो भूल ही-सा जाते हैं और अयोध्यावासियों के साथ कैकेयी और मन्थरा को कोसते हैं। कवि भी उस दृश्य को तनिक देर के लिये सामने लाकर फिर हमारे ही साथ जाता है और कैकेयी तथा मन्थरा के प्रति क्रुद्ध वैसा ही बर्तता जान पड़ता है। ऋषि-आश्रमों में पहुँचकर ही रहस्यों का कुछ प्रकटीकरण शुरू किया जाता है, इससे पूर्व नहीं। इस दृश्य का आनन्द यह है कि वह स्वयं भी रसमय है। शा महोदय ने भी इस युक्ति का प्रयोग किया है, पर वहाँ मस्तिष्कीय वातावरण अधिक और भावुकता एवं आध्यात्मिकता कम है।

(३) चित्रकूट से चल पड़ने पर महाकाव्य-कला का विकास बहुत अधिक स्पष्ट होना प्रारम्भ होता है। ऋषिगण भगवान् राम को हड्डियों के उस ढेर के पास से ले जाते हैं जो विशेष प्रबन्ध से जमा किया हुआ प्रतीत होता है। कौन होगा जो वैसे बड़े ढेर को देखकर प्रभावित न हो? राम जी ने भी प्रश्न किया कि ये हड्डियाँ किन की हैं। जब उत्तर मिला कि ये उन ऋषि-मुनियों की हैं जिन्हें राक्षसों ने खा डाला है, तो राम का आधिदैविक व्यक्तित्व एक दम पूर्णतः जाग्रत हो गया। उन्होंने एक घोर सङ्कल्प किया—

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।

तदुपरान्त न हम साधारण संसार में हैं और न घटनायें ही साधारण हैं। वानरगण वे देवता हैं जो ब्रह्मा के आदेश से वानर रूप धारण कर रामागमन की राह देख रहे थे। राक्षस भी कामरूप, मायावी दानव थे। कवि एक जगह लिखता है—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप.................... ॥

पर वहाँ भी नाटकीय कला को हाथ से नहीं जाने दिया गया।

राम-वियोग, सीता-विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप आदि-आदि अनेक घटनाएँ हमें याद दिलाती रहती हैं कि इन असाधारण व्यक्तियों में भी मानवता विद्यमान है—हाँ, वह मानवता देवत्वयुक्त अवश्य है।

इस कला के उलट-फेर को ध्यान में न रखने के कारण ग्राउस महोदय-जैसे उदार आलोचकों ने एक बड़ी ग़लती की है। उनका कहना है कि अयोध्याकाण्ड के बाद तुलसी की काव्य कला में पतन हुआ है, यद्यपि वस्तुतः अब नाटकीय कला का प्रयोग कम करके हमारा कवि अपनी महाकाव्य-कला का पूर्ण विकास दिखाना चाहता है। यहां से शेक्सपियर जैसे नाटककार तुलना में ठहर ही नहीं सकते। अब तो यदि तुलना हो सकती है तो मिल्टन या होमर से। सच पूछिये तो राम-रावण-संग्राम ब्राह्मण-ग्रन्थों के देवासुर संग्रामों से भी अधिक भयानक लगता है। मुझे तो मिल्टन द्वारा वर्णित शैतान और ईश्वर पुत्र वाली लड़ाई भी उस घोर संग्राम के आगे बच्चों का खेल मालूम होती है। जब रावण के लाखों कटे हुए सिर राम-बाणों में बिंधे और उड़ते हुए दीखते हैं तो मानवी मस्तिष्क चकरा जाता है। मैं तो अधिक भयावने दृश्य की आज तक कोई कल्पना भी न कर सका। फिर मजा यह है कि हर लड़ाई में कुछ ऐसी विचित्रता है कि जी नहीं ऊबता। तुलसी जी की लड़ाइयों के वर्णन में वह उबा देने वाली समानता नहीं जो होमर द्वारा वर्णित तथा महाभारत की लड़ाइयों में पायी जाती है। हमें तो अर्नेस्ट वुड महोदय का कथन सर्वसत्य प्रतीत होता है कि यवन और लातीनी भाषाओं के सर्वमान्य ग्रन्थ रामायण के मुक़ाबले में नहीं टिक सकते।

(४) स्मरण रहे कि महाकवि मिल्टन ने भी Paradise Lost में लिख दिया है कि रूहों में घटने और बढ़ने की शक्ति होती है और उनमें लिङ्गभेद नहीं होता। वे जो रूप चाहें धारण कर सकती

हैं। हमारे देश के भी १९ वीं शताब्दी में सुधारक श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने इतना माना है कि जीवन्मुक्त अभ्यागत होता है और इच्छामात्र ही उनका शरीर होता है। महाकाव्य-कला के समझने के लिये इस सिद्धान्त का कम से कम इतना मानना आवश्यक है कि काव्यकला में ये बातें असम्भव नहीं हैं। हमारे यूनिवर्सिटी के नवयुवक यह प्रश्न तो कभी नहीं करते कि मिल्टन के शैतान का अस्तित्व सम्भव है या नहीं और न कोई अँगरेज़ ही Paradise Lost को एक काव्य-कला का ग्रन्थ समझकर पढ़ते हुए ऐसा प्रश्न करता है, परन्तु शोक तो यह है कि रामायण पढ़ते हुए रावण और कुम्भकर्ण आदि पर कितनी ही असाहित्यिक आलोचनाएँ की जाती हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि महाकाव्य पढ़ते समय कम से कम वैसे अनुचित कटाक्ष न होने चाहिये और यदि यह निवेदन स्वीकार हो तो हमारे पाठकगण भी अर्नेस्ट उड महोदय के साथ बड़े गौरव से कह सकेंगे कि रामचरितमानस के टक्कर की पुस्तक महाकाव्य-संसार में कोई दूसरी नहीं। मैं जान-बूझकर इस समय यह बहस नहीं छेड़ना चाहता कि अब तो आध्यात्मिक जीव-विज्ञान कितनी ही असम्भव बातों को सम्भव साबित कर रहा है।

सच है, महाकाव्य-कला के गौरव को समझने के लिये हमारी कल्पनाशक्ति में रबड़ की सी घटी-बढ़ी होनी चाहिये। इस बात के पैदा करने के लिये महाकवि मिल्टन और महाकवि तुलसी की युक्तियों में कितनी समानता है, यह विचारणीय है। मिल्टन लिखता है कि जब दैत्यों-दानवों की पंचायत उनके पंचायत घर में लगीं तो दानवगण इतने बड़े-बड़े रूप धारण किये हुए थे कि बहुत सी दानव-जनता बाहर ही खड़ी रही। यह देख शैतान ने बड़े ज़ोर से अपील की कि मुख्य-मुख्य दानवों के सिवा और सब छोटे आकार ग्रहण कर लें। बस, फिर क्या था, सारी दानव जनता के

लिये जगह निकल आयी, बल्कि कुछ खाली रह गयी। तुलसी ने भी हनूमान जी और सुरसा का मुक़ाबिला इसी सिद्धान्त पर कराया है। बाढ़ का वह हाल कि कवि लिखता है—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप दिखावा॥

यहाँ तक कि अन्त में सुरसा के लिये लिखा है—

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा।

यह देख खिलाड़ी हनूमान् पैतरा बदल देता है। कवि लिखता है—

अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। मागी बिदा ताहि सिर नावा॥

सच है, 'पवनसुत' में यह घटने-बढ़ने की शक्ति न हो तो किस में हो?

हमारी विचारशक्ति बहुत संकुचित हो गयी है, नहीं तो नसीम लखनवी जैसे सुकुमार शृङ्गारी कवि ने जहाँ 'देव' (दानव) का चित्रण किया है वहाँ यही लिखा है—

दन्दान थे गोरकन कज़ा के, दो नथने रहे अदम के नाके।

'उसके दाँत मृत्यु की कब्र खोदने वाले थे और नाक के नथुने क्या थे, यमलोक के रास्ते थे।'

(५) नाटककार संसार का सच्चा चित्र खींचता है, जिसमें बुराई हो और भलाई भी। वह बुराई पर परदा नहीं डालता। महाकाव्य-कलाकार हमें वे रहस्य दिखाता है जो सांसारिक आवरण की ओट में हैं, इसलिये वह बहुधा उपदेशक रूप में हमारे सामने आता है। तुलसी जी ने उभय कलाओं का अत्यन्त सुन्दर समन्वय किया है। उन्होंने किसी बुराई को छिपाया नहीं, पर उसे हद से बाहर भी नहीं होने दिया। उनके शृङ्गार एवं हास्य-रस में सारा

स्थान पर सरस औ काव्यमय हैं। उदाहरणार्थ मैं श्रीविजयानन्द जी त्रिपाठी की कही हुई बात याद दिलाता हूँ। उन्होंने क्या अच्छा कहा है कि यदि सारी रामायण पर आध्यात्मिक आलोचना देखना हो, नहीं-नहीं, यदि सारी रामायण ही को आध्यात्मिक रूप में देखना हो तो रामनाम-प्रशंसा-प्रकरण का विचार पूर्वक अध्ययन कीजिये। एक आध चौपाई नमूने के तौर पर दी जाती है—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

हमारी पथराई हुई मूढ़ कुमति का उद्धार करने के लिये राम-नाम ही एक साधन है। देखा, आपने अहल्या तारण का आध्यात्मिक रूप !

राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनिवर बानी॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥
फिरत सनेहँ मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥

प्रसंग कितना स्पष्ट और साथ ही कितना रोचक और भावुकतापूर्ण है।

नाटकों का कृत्रिम विभाग और तुलसी जी के विचार

नाटक-कला की तमाम गड़बड़ियों का कारण यह जान पड़ता है कि उनका विभाजन कृत्रिमरूप से दुःखान्त और सुखान्त रूपों में किया गया है। दुःखान्त के अन्त में दो-चार मौतों के बिना काम ही नहीं चलता और सुखान्त नाटकों में तो शृङ्गार एवं हास्य-रसों की भरमार ही-भरमार होती है। यूनानी नाटक-कलाकारों ने गायक-समूह के साधन से हमारे पथप्रदर्शन का कुछ काम चला लिया था, परन्तु शेक्सपियर की कला में तो वह आधार भी जाता रहा। दुःखान्त नाटकों की नैराश्यमय शैली ने आदर्शवाद एवं आशावाद

की मिट्टी पलीद कर दी। सुखान्त नाटकों तथा प्रहसनों के मखौल ने तो मखौल को ही ध्येय-सा बना दिया। इसमें सन्देह नहीं कि कविवर शेक्सपियर ने कहीं-कहीं एक कला में दूसरे की चाशनी दी है, परन्तु वह है दरिया में दो-चार बूँद ही की तरह।

हमारे कवि का सिद्धान्त किसी कृत्रिम विभाजन को मानता हुआ प्रतीत नहीं होता। जनकपुर-भ्रमण से लेकर विवाह तक का अंश एक अत्यन्त सुन्दर सुखान्त नाटक है, परन्तु वहाँ भी करुण-रस का पुट स्थान-स्थान पर दिया गया है और शान्त-रस का सदाचार भी हाथ से नहीं जाने पाया। प्रहसन के नमूने शिव-विवाह और नारद-मोह से बढ़कर मिलने मुश्किल हैं, परन्तु वहाँ भी हास्य-रस आत्मोद्धार का ही साधन है। अयोध्याकाण्ड से बढ़कर सकरुण नाटक मिलना कठिन है, परन्तु वहाँ भी कवि केवल रोगों की विवेचना नहीं करता बल्कि उनकी चिकित्सा करके हमारा पथप्रदर्शक बनता है।

बात स्पष्ट है। तुलसीदासजी का विभाजन रसों की बहुतायत पर निर्भर है, न कि किसी कृत्रिम अन्तर पर। सच पूछिये तो अरस्तू का यह सिद्धान्त कि दुःखान्त नाटक-कला का ध्येय यह है कि करुण और भयानक भावनाएँ हमारे हृदय में उत्पन्न कर उसे शुद्ध किया जाय, तुलसीजी की ही कला में चरितार्थ हुआ है, नहीं तो शेक्सपियर की दुःखान्त नाटकीय कला में तो नैराश्य की ही प्रधानता है।

कवि उपदेशक है या कलाकार या कलाबाज़ ?

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एक ऐसा वाक्य है जो हमारे लिये हर समय आदरणीय है। वैज्ञानिक उस सत्यरूपी तत्त्व की खोज में लगा है जो स्वयं कभी नहीं बदलता और जिससे सारे तत्त्व निकल कर उसीमें पुनः लीन हो जाते हैं। इस आर्ष-वाक्य का सिद्धान्त

यह है कि वह तत्त्व सुन्दर भी है और कल्याणकर भी। उपदेशक किसी कल्याण-मार्ग की खोज में लगा हुआ है और प्रेम के ढाई अक्षरों की शिक्षा तथा त्याग एवं विराग का उपदेश देता है। कलाकार उस तत्त्व की सुन्दरता पर मुग्ध होता है और सुन्दरताही द्वारा सत्य एवं शिवत्व का प्रकट होना मानता है। इससे स्पष्ट हो गया कि वैज्ञानिक, उपदेशक तथा कलाकार एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूपों के उपासक हैं। तुलसीजी की परिभाषा में उस तत्त्व का नाम 'राम' है और इसीलिये ग्रन्थ के प्रारम्भ में नामकरण-संस्कार के अवसर पर गुरु वशिष्ठ द्वारा राम-नाम की व्याख्या यों करायी है कि–'सकललोकदायक विश्रामा। 'राम' की सुन्दरता तो रामायण में जगह-जगह दीखती है। यहाँ तक कि राक्षसों ने भी उस सुन्दरता का सिक्का माना है।

तुलसीजी कवि के तीन पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। वे सबसे पहले कलाकार एवं सौन्दर्योपासक हैं। हाँ, फिर क्योंकि वही तत्त्व शिव तथा कल्याणकर भी है, अतः उपदेशक-रूप आप-ही-आप आ जाता है। सच है, कवि हृदय द्वारा ही अपना काम करता है और उसके वाक्यों में रस की प्रधानता होती है, जिनमें सत्य होता है; परन्तु वे हमें सत्य मार्ग पर भी रस के ही द्वारा ले जाते हैं।

यदि ऐसा न होता तो मिल्टन की तरह शृङ्गार एवं हास्य से प्रायः शून्य ही महाकाव्य-कला तुलसी जी में भी पायी जाती। अँगरेज कहते हैं कि हम मिल्टन को केवल कर्तव्य समझकर पढ़ते हैं। हाँ, शेक्सपियर को अवश्य अपने आनन्द के लिये पढ़ते हैं। क्या हमारे लिये यह बात गौरव की नहीं कि तुलसीकृत रामायण कर्तव्य समझकर भी पढ़ी जाती है और आनन्द के लिये भी। कवि ने गरुड़ के मुख से स्वयं कहलाया है—

अब श्रीराम कथा अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार विनवउँ प्रभु तोही॥

उनके उपदेश ऐसे रूखे नहीं होते कि कोई यह कटाक्ष कर सके कि—

यह कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह,
कोई चारासाज़ होता कोई ग़मगुसार होता (ग़ालिब)

'यह कैसी मित्रता है कि मित्रगण सहायता देने और सहानुभूति दिखाने के बजाय उपदेशक बने हुए हैं।'

तुलसी के शृङ्गारी नायक नायिका—राम सीता—मानो कविवर ज़ौक़ के शब्दों में यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि—

इस तरह जाते हैं देखा, पाकदामन आब में।

कलाकारी और कलाबाजी ('आमद' और आवुर्द—art and artifice) संसार में दो पृथक् वस्तुएँ समझी जाती हैं। पहले में स्वाभाविकता और दूसरे में कृत्रिमता होती है। कविता के कारणों की व्याख्या करते हुए तुलसी जी भी मानते हैं कि वही भगवान्—

कविमति अजिर नचावहिं बानी।

और यही सिद्धान्त टैगोर जी का भी है कि कवि केवल एक वंशी है जिससे वही आदि शब्द भाँति-भाँति से निकलता है। पर यह याद रहे कि बाँसुरी के रूप-गुण का प्रभाव भी शब्द पर पड़ता है, नहीं तो फटी हुई बाँसुरी क्या बजेगी। मिल्टन ने भी लिखा है कि कवि को प्रथम अपने जीवन को ही कवितामय बनाना चाहिये, तभी वह ऐसी कविता लिख सकेगा जो भावी संसार के लिये कल्याणकर हो। तुलसी ने भी कहा है—

श्रीगुरु चरन सरोज रज, निज मनु मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि॥

को पहले दूर न कर दिया जाय तो चित्र ही टेढ़ा होगा, और जब कवि के हृदय में ही चित्र टेढ़ा हो तो फिर उसकी कविता के टेढ़ेपन का क्या कहना ?

सारांश यह कि तुलसी जी ऐसे कवि हैं जिनमें कलाकारी और कलाबाज़ी एक हो जाती है। हमने अपने 'प्रभा' और 'माधुरी' द्वारा प्रकाशित लेखमाला में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि रामचरितमानस के पद रस्किन के उस कसौटी पर कैसे खरे उतरते हैं जिसमें उसने कहा है कि आदर्श काव्यग्रन्थ शब्दशः नहीं-नहीं, अक्षरशः पढ़ने योग्य होते हैं। रस्किन की बात साहित्यिक अध्ययन की है। मुंशी शीतलासहाय जी ने जो बृहत् शाब्दिक व्याख्या रामायण की की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि एक-एक शब्द में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रहस्य छिपा हुआ है। श्रीशुक्ल जी ने भी एक पुस्तिका लिखी है जिसमें पिङ्गल की सारी सूक्ष्मताओं, अलंकारों, गुणों, रीतियों और भावों के नमूने रामायण में से निकालकर लिख दिये हैं। हाँ, यदि इसमें न मिलेगी तो पिङ्गल-शास्त्र की कृत्रिमता। उदाहरणार्थ मोरपंख के रूप का एक छन्द भी न मिलेगा। बात यह है कि तुलसी की कविता का प्रवाह स्वाभाविक है। वह किसी चीज़ को ख्वामख्वाह तोड़-मरोड़कर नहीं लाते।

मुग़ल शिल्पकलाकारों के लिये कहा जाता है कि वे ऊपरी ढाँचा तो दानवों की तरह बड़ा बनाते थे परन्तु उसकी सजावट रत्नकारों की भाँति करते थे (They conceived like giants and finished like jewellers)। ठीक यही बात तुलसी की काव्य-कला पर लागू होती है। उनके महाकाव्य की उड़ान इतनी ऊँची है जिसमें सारा विश्व आ जाता है। ब्रह्मलोक और इन्द्रलोक तथा देवों असुरों का तो कहना ही क्या, वे हमें ऐसी जगह पहुँचा देते हैं जिसके लिये उन्होंने स्वयं लिखा है—

जगु पेखन तुम्ह देखिनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥

'यह है तुलसीजी का रामतत्त्व। अब सजावट की बात रही, सो फुलवारी-लीला, धनुपयज्ञ और विवाह देखिये और मुग्ध हूजिये। मैंने अपने एक लेख में जो 'वेदिक-मैगज़ीन' में छप चुका है, लिखा था कि मुझे तो फुलवारी-दृश्य और सीता-विवाह-मण्डप की रचना का वर्णन पढ़ने के बाद यही प्रतीत होता है कि तुलसी की कला का प्रभाव उन मुग़ल शिल्पकारों की कला पर पड़ा था जिन्होंने ताज का निर्माण किया। इतना ही नहीं, बल्कि विवाह-मण्डप में वायु-स्पर्श से बोलनेवाली चिड़ियों और भौंरों का पता तो मुग़ल पच्चीकारी में भी नहीं है।

जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि महाकाव्य-कला, नाटकीय-कला, तथा गान-कला का प्रयोग रामचरित मानस में इस सुन्दरता एवं उत्तमता से हुआ है कि संसार में उसका जोड़ मिलना कठिन है। फिर उपदेशों का तो कहना ही क्या? तुलसीदास जी ने स्वयं पुस्तक की आरती में लिखा है—

चारिउ वेद पुरान अष्टदस, छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस।

—:o:—

तुलसीकृत-रामायण में हास्य-रस

" श्री तुलसीदास जी ने जहाँ कहीं भी हास्य की छीटें दी हैं... ...कौल-काँटे से दुरुस्त होकर सराहनीय हैं "—

—जी० पी० श्रीवास्तव

(१) प्रस्तावना

मेरी सदा से यह धारणा रही है कि संसार के महाकवियों में तुलसीदास जी का जो विशेष स्थान है उसका मुख्य कारण यह है कि हमारे महाकवि ने नवों रसों का प्रयोग बड़ी उत्तमत्ता के साथ किया है और विशेषतः हास्य एवं शृङ्गार रसों को ऐसी सुन्दरता से निभाया है कि न तो महाकाव्य की महानता में बट्टा लगा और न विषय ही ऐसा रूखा-सूखा रहा कि जी न लगे। देखिए न, हास्य और शृङ्गार के बिना महाकवि मिल्टन के संबंध में अँगरेज़ आलोचकों को यह कहना पड़ा कि हम मिल्टन को केवल कर्तव्य समझकर पढ़ते हैं। वे यह अवश्य कहते हैं कि शेक्सपियर को हम ख़ुशी से पढ़ते हैं। परन्तु शेक्सपियर में महाकाव्य का गौरव कहाँ? हमारे हर्ष की सीमा नहीं रहती जब हम देखते हैं कि तुलसीकृत-रामायण का पाठ 'कर्तव्य' और 'ख़ुशी' दोनों के लिये होता है। इसीलिये तो मैं कहा करता हूँ कि तुलसीदास जी ने ज़मीन-आसमान के क़ुलाबे मिला दिए हैं।

कई वर्ष हुए जब मैंने द्विवेदी-मेला-प्रयाग के अवसर पर श्री जी० पी० श्रीवास्तव का वह भाषण सुना था जिसका एक अंश इस लेख-माला के ऊपर दिया गया है, तभी से मेरा यह संकल्प दृढ़ हो

गया था कि तुलसीकृत-रामायण में हास्य-रस का चमत्कार दिखाने का भी प्रयत्न करूँ। पर मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया और ३ वर्ष हुए कि ऐसी ठोकर लगी कि मरते-मरते बचा। पर सच पूछिए तो क्या बचा! वही कचहरी का चक्कर और गृहस्थी का कोल्हू! पर मौलाना हसरत मौहानी के कथनानुसार—

है मश्क़े-सखुन* जारी चक्की की मशक़्क़त भी,
इक तुर्फ़ा तमाशा है 'हसरत' की तबीअत भी।

इस में भी कुछ लुत्फ़ ही है! अस्तु। फिर कई महीने इस में लग गए कि रामायण को इस दृष्टि कोण से पढ़ कर निशान लगाए जायँ। जब यह काम ख़तम हुआ तो विचार पैदा हुआ कि श्री अमरनाथ झा कृत "शेक्सपियर के सुखान्त नाटक" (Shakesperian Comedy) नामी पुस्तक के पढ़ने के बाद ही यह काम शुरू किया जाय। कारण, झा महोदय ही इस विषय के अन्तिम आलोचक हैं। पर उस पुस्तक का बाज़ार में पता न था। वह पहले ही हाथों-हाथ बिक चुकी थी। सौभाग्य वश झा महोदय इसलामिया स्कूल फ़तेहपुर के वार्षिकोत्सव में यहाँ पधारे और मुझे अवसर मिला कि मैं उनकी निजी प्रति को ही पढ़ने के लिये माँग लूँ। मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने कृपाकर होली और 'ईस्टर' की छुट्टियों भर के लिये मुझे अपनी वह प्रति दे दी। अँगरेज़ी भाषा में वह पुस्तक अपने ढंग की निराली है और भारतीय मस्तिष्क को ऊँचा करती है।

हास्य-रस के सिद्धान्तों का अनुभव मुझे सर्व प्रथम एडीसन के लेखों के अध्ययन से हुआ था पर यदि श्री जी० पी० श्रीवास्तव और झा महोदय की पुस्तकों के पढ़ने का सौभाग्य न मिला होता तो वह अनुभव अधूरा ही रह जाता। इस लेख-माला में हास्य-रस के

---

* काव्य-रचना का अभ्यास।

सिद्धान्तों के निमित्त मैं इन्हीं लेखकों का ऋणी हूँ। हाँ, मैंने अपने मतभेद को यथावसर प्रगट भी कर दिया है। पर मेरा ख़ास काम यही है कि मिसालें रामायण से खोज कर लिख दी गई हैं।

पश्चिमी साहित्य के आलोचकों एवं पिंगलाचार्यों (जिनमें झा महोदय अंतिम कहे जा सकते हैं) और हिन्दी-संस्कृत के विद्वानों में कुछ मौलिक भेद हैं जिन्हें प्रस्तावना में प्रगट कर देना जरूरी है। हिंदी और संस्कृत साहित्य में नाटकों में सुखान्त एवं दुःखान्त रूपी भेद उतना नहीं माना जाता जितना पश्चिमी देशों में। हमारे यहाँ काव्य-भेद की निर्भरता रसों पर है और सच पूछिए तो यही वैज्ञानिक भी है। सुखान्त एवं दुखान्त संबंधी भेद में ही कृत्रिमता प्रतीत होती है। पश्चिमी देशों के इस भेद का ऐतिहासिक कारण यह है कि उन्होंने यवन-देश के पिंगल और नाट्य कला को ही अपना आधार माना है और वहाँ उस भेद का निर्माण उस समय हुआ जिसे काव्य की बाल्यावस्था कहनी चाहिए। इसीलिये तो उन देशों के स्वाभाविकताप्रिय (Romantic) कवियों और नाट्यकारों ने उस भेद को नहीं माना। झा महोदय भी लिखते हैं कि कविवर शेक्सपियर ने इस भेद को सिर्फ ढाँचे में माना है, नहीं तो उनके दुखान्त नाटकों में हास्य-रस और सुखान्त में करुण रस बराबर मिलता है। संस्कृत काव्य में तो रस की प्रधानता पर ही सब कुछ निर्भर है। यों तो कोई हर्ज नहीं, पर रस-भेद को न मानने के कारण पश्चिमी साहित्य में एक त्रुटि आ गई है। पश्चिमी देशों के आलोचक 'किंग लियर' (King Lear) वाले विदूपक की वार्ताओं को भी हास्य-रस से परिपूर्ण समझते हैं। झा महोदय ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि कविवर शेक्सपियर की यह विशेषता है कि उसने करुण-रस में भी हास्य क़ायम रखा है और उदाहरण में 'किंग लियर' के विदूपक और 'हैमलेट' में से क़ब्र खोदने वालों की वार्ताओं को पेश किया है। पर सोचने की बात यह है कि जहाँ हँसी

की जगह रोना आए उसे हास्य क्योंकर कहा जा सकता है। अँगरेज़ी भाषा में भी 'सार्डोनिक स्माइल' (sardonic smile) के मानी उस हँसी के हैं जिस में कृत्रिमता एवं कटुता हो पर प्रसन्नता एवं वास्तविक हास्य का पता न हो और न उसमें हमारे हृदय के भावों का समावेश हो। मुझे तो कभी कभी यह प्रतीत होता है कि कविवर शेक्सपियर ने 'किंगलियर' नामी पुस्तक में विदूषक की जगह 'मूर्ख'-शब्द इसलिये रखा है कि वह विदूषक ही क्या जो हँसा न सके वल्कि रुलाए। मैं नहीं कह सकता कि मेरी यह वात कहाँ तक सही है।

उदाहरणों से यह वात अधिक स्पष्ट हो जायगी। यह संभव है कि 'किंग लियर' के मूर्ख वाले कटाक्षों से शुरू में कुछ मुसकराहट आ जाय और हम यह भी मान सकते हैं कि उस मूर्ख की चेष्टा वरावर यही रही हो कि वह हँसाए, परन्तु परिणाम वैसा नहीं हुआ वल्कि थोड़ी ही देर के वाद उसके कटाक्ष विच्छू के डंक की तरह कष्टदायक प्रतीत होने लगते हैं। अँगरेज़ आलोचकों का कहना है कि उस मूर्ख के शब्द मानो 'किंग लियर' के आत्मा की प्रतिध्वनि हैं। यदि ऐसा है जैसा कि प्रतीत भी होता है, तो फिर उन में हास्य का लेश कैसे हो सकता है ? यहाँ फिर तुलसीदास और शेक्सपियर की शैलियों का भेद विचारणीय है। इस मूर्ख वाली कृत्रिम शैली से कविवर शेक्सपियर को आत्मा की प्रतिध्वनि इसीलिये प्रगट करनी पड़ी है कि कवि अपने को सामने नहीं लाना चाहता और तुलसीदास जी ऐसे अवसरों पर स्वयं ही रंग-मंच के समीप उपस्थित हो और दृश्य की आलोचना करते हुए विषय को स्पष्ट कर देते हैं। कुछ भी हो, पर उस मूर्ख की चोटें इतनी कड़ी हैं कि वेचारा लियर तिलमिला जाता है और हमारे हृदयों में करुण-रस उमड़ पड़ता है। मुझे तो जी० पी० श्रीवास्तव जी की वात ठीक जान पड़ती है कि ऐसे अवसर पर व्यङ्ग, हास्य-रस के वाहर निकल

जाता है। उदाहरण के तौर पर यह लिखते हैं कि "हास्य स्वयं ही त्रास जो के व्यङ्गों को दूर से प्रणाम करता है" और यही हाल 'लियर' वाले मूर्ख के व्यङ्गों का है जिन्होंने बेचारे लियर को तो और भी बौखला दिया है। हमारे तुलसीदास कितने दयालु हैं कि महाराज दशरथ की परेशानी के समय कैकेयी के कटाक्षों को थोड़ी ही देर बाद हटा देते हैं और उसके बाद फिर सहानुभूति ही सहानुभूति मिलती है। यह नहीं कि चोट पर चोट पड़े, जख्म पर नमक छिड़का जाय और जले को अधिक जलाया जाय।

तूफ़ान में पानी और हवा के थपेड़ों से बेचैन बादशाह लियर कहता है—"हवा, पानी, बिजली और आग, ये मेरी पुत्रियाँ * नहीं हैं। मैं इन्हें बुरा नहीं कहता। ऐ तत्त्वो! तुम्हारी कठोरता अन्याय पूर्ण नहीं है। मैंने तुम्हें बादशाहत नहीं दी·········पर मैं तुम्हें गुलाम जरूर कहूँगा क्योंकि तुमने मेरी दो जालिम लड़कियों का साथ दिया है और वैसा करते हुए मुझ बूढ़े सफ़ेद बालों वाले के विरुद्ध एक तहलका मचा दिया है। आह! आह! यह शर्म की बात है।"

मूर्ख—"जिसके पास (तूफ़ान के समय) किसी तरह का भी घर है जिसमें वह अपने शिर को बचा सके तो मानो उसके पास एक अच्छी टोपी है।"

[मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें हास्य क्या है। यहाँ तो मूर्ख का कटाक्ष डंक की कठोरता तक पहुँच गया। सूक्ष्मदर्शी पाठक तुलसीदास के उस कमाल की प्रशंसा अवश्य करेंगे जिसके कारण उन्होंने परशुराम के प्रति लक्ष्मण द्वारा किए गये कटाक्षों को सीमा

---

* बादशाह लियर ने अपनी दो ख़ुशामदी लड़कियों को सब राज-पाट बाँट दिया। और तीसरी सीधी सादी लड़की को कुछ नहीं दिया। राज पाने पर कृतघ्न लड़कियों ने ऐसा बर्ताव किया कि लियर को भाग कर अँधेरी रात में तूफ़ान के समय जंगल में रहना पड़ा। अंत में सीधी लड़की ही काम आई पर लियर को काल से बचा न सकी। ले०।

से बढ़ता देखकर यह लिख दिया था—अनुचित कहि सब लोग पुकारा।]

अब दूसरी मिसाल लीजिए। एडगर टाम पागल बन कर जाड़े से काँपता और दाँत किटकिटाता हुआ एक झोंपड़े का आश्रम लेता है और कँबल ओढ़ कर लेट रहता है।

लियर—"क्या इसकी लड़कियों ने इसकी यह गति बना दी है? आह, क्या तूने कुछ भी नहीं बचाया? क्या तूने भी उन्हें सब कुछ दे डाला?"

[यह बात लियर ने उस समय कहीं थी जब लियर और मूर्ख दोनों एडगर के कँबल में घुस रहे थे]।

मूर्ख—"नहीं, उसने एक कँबल बचा रखा है, नहीं तो हमारी दशा भी लज्जाजनक होती।"

[चोट फिर गहरी है जिसमें हास्य क्या, दिल की गुदगुदी की भी गुंजाइश नहीं। कटाक्ष करुण रस को उभारते हैं, हास्य को नहीं।]

अब 'हैमलेट' में से क़ब्र खोदने वालों की वार्ता का दृश्य देखिए। हैमलेट की प्रेमिका ओफ़ेलिया के बाप की मौत हैमलेट के हाथों होती है। कोमल ओफ़ेलिया का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। वह पागल हो जाती है और उसी दशा में डूब कर मर जाती है। क़ब्र खोदने वाले उसकी क़ब्र खोदते हुए आपस में यों कहते हैं—"जब वह आत्मघात से मरी है तब ईसाई धर्मानुसार उसका मृतक-संस्कार कैसे हो सकता है?"

एक—"अगर पानी आकर उसे डुबा देता है तो आत्मघात कैसे हुआ?"

दूसरा—"क्या यही क़ानून है?"

एक—"हाँ, मौत की जाँच करने वाले हाकिम का यही क़ानून है।"

दूसरा—" भाई, सच तो यह है कि अगर यह बड़े घराने की लड़की न होकर ग़रीब होती तो इसे ईसाई धर्म के अनुसार मृतक संस्कार का सौभाग्य कभी न मिलता।"

इत्यादि इत्यादि।

[यहाँ रोना या घृणा का होना तो कहा जा सकता है पर हास्य तो कदापि नहीं]।

हैमलेट वहाँ पहुँच जाता है और एक क़ब्र से निकली हुई पुरानी खोपड़ी को हाथ में लेकर यों कहने लगता है—"इस खोपड़ी में कभी ज़बान थी। कभी यह गा सकती थी। आह यह कमबख़्त इसे क्यों ज़मीन पर ठुकराता है, मानो यह उस 'केन' के जबड़े की हड्डी हो जिसने दुनिया में पहला क़त्ल किया था। सम्भव है यह किसी राजनीतिक मनुष्य की खोपड़ी हो जिस पर अब गधा विजय पा रहा है। कभी यह ईश्वर को धोखा देने की कोशिश करता रहा होगा.........."

[हमें तो यहाँ रोना आता है और मानवता से घृणा पैदा होती है। हँसी का तो नाम भी नहीं]।

एक जगह हैमलेट कहता है—" क्या तुम समझते हो, सिकन्दर की ज़मीन के अंदर यही शक्ल रही होगी ?"

उसका मित्र होरेशियो उत्तर देता है—" बिलकुल ऐसी ही।"

हैमलेट—" यह तो बहुत बदबू करती है। छी छी !"

[यहाँ तो विषय बीभत्स-रस तक पहुँच गया और करुण-रस से भी बाहर होगया]।

ऐसे ही प्रसंग में शुद्ध करुण-रस के उदाहरण उर्दू के 'ज़हरे-इश्क' नामी काव्य में देखिए। कवि लिखता है—

ऊँचे-ऊँचे मकाँ थे जिनके खड़े, आज वह तंग गोर* में हैं पड़े
इत्र मिट्टी का जो न मलते थे, न कभी धूप में निकलते थे

---

* क़ब्र।

गर्दिशे-चर्ख़* से हलाक हुए, उस्तख्वाँ† तक भी पिस के ख़ाक हुए।

[यह है शुद्ध करुण-रस !]

तुलसीदास जी में भी कटु कटाक्षों की कमी नहीं परन्तु वे उनकी गणना हास्य-रस में नहीं करते। महाराज दशरथ कैकेयी की वर-याचना पर सहम जाते हैं तो कैकेयी कहती है—

भरत कि राउर पूत न होहीं, आनेहु मोल बिसाहि कि मोहीं
जो सुनि शरसम लाग तुम्हारे, काहे न बोलेहु बचन सँभारे
सत्य सराहि कहेउ वर देना, जानेहु लेइह माँग चबेना

[तुलसीदास जी बिलकुल ठीक आलोचना करते हुए कहते हैं—मानहु नोन जरे पर देई]

महाराज ख़ुशामद से काम लेना चाहते हैं और भरत को राज देने वाला वर स्वीकृत कर केवल राम-वनोवास सम्बन्धी वर को लौटाने के लिये कहते हैं। तब निठुर कैकेयी कहती है—

कहहु करहु किन कोट उपाया, यहाँ न व्यापै राउर माया।
छाँड़हु वचन कि धीरज धरहू, जन अबला इव करुणा करहू।

[कटुता की सीमा नहीं, पर इसे हास्य कैसे कहा जाय ?]

अब बीभत्स-रस का उदाहरण देखिए। लंकाकाण्ड में लड़ाई के मैदान का दृश्य है। कवि लिखता है—

मज्जहिं भूत पिशाच बेताला, केलि करहिं योगिनी कराला।
काक कंध धरि भुजा उड़ाहीं, एक ते एक छीन धरि खाहीं।
एक कहहि ऐसेउ बहुताई, सठ तुम्हार दारिद्र न जाई।
खैंचहिं आँत गृद्ध तट भए, जनु बंसी खेलत चित दए।
बहु भट बहे चढ़े खग जाहीं, जिमि नावरि खेलहिं सरि माहीं।
योगिनि भरि भरि खप्पर खाँचहिं, भूत पिशाच विविधविध नाचहिं।
भट कपाल करताल बजावहिं, चामुंडा नाना विधि गावहिं।
जंबुक निकर दन्त कटकटहीं, खाहिं अघाहिं हुहाहिं डपटहीं।

---

* आसमानी चक्कर (काल चक्र)। † हड्डी।

क्या साहित्य में शैतानी खेल और हास्य की मिसाल इससे बढ़ कर मिल सकती है ? पर क्योंकि ये खेल भूत, पिशाच और योगिनों के हैं इसलिये इसकी गणना वीभत्स-रस में की जाती है। 'हैमलेट' में क़ब्र खोदने वालों और हैमलेट की वार्ता भी कुछ इसी ढँग की है अतः मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि उनकी गणना हास्य-रस में न होनी चाहिए।

तो फिर क्या करुण-रस के दृश्यों में हास्य-रस की गुंजाइश ही नहीं ? नहीं, यह भी ठीक नहीं। 'वेनिस का सौदागर' (Merchant of Venice) के अदालत वाले दृश्य में अँगूठियों का मज़ाक हास्य की अच्छी मिसाल है। तुलसीदास भी लंका की लड़ाई का अंत होने पर हास्य-रस का एक बड़ा सुन्दर चित्र खींचते हैं :—

बहुरि विभीषण भवन सिधाए, मनिगण बसन विमान भराए।
ले पुष्पक प्रभु आगे राखा, हँसि कर कृपासिंधु अस भाखा।
चढ़ि विमान सुनु सखा विभीषण, गगन जाहि बर्षहु पट भूषण।
जो जेहि मन भावै सो लेहीं, मनि मुख मेलि डारि कपिदेहीं।
हँसे राम सिय अनुज समेता, परम कौतुकी कृपानिकेता।

कितना मजेदार बयान है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भगवान को लीलामय कहा जाता है तो फिर उनके अवतार का परम कौतुकी होना कौन से ताज्जुब की बात है। हमारा ईश्वर ऐसा रूखा-सूखा नहीं जिसके कारण बर्नार्डशा महोदय को यह ज़रूरत पड़ी कि बैकुण्ठ की शुष्कता से नरक की चहल-पहल को बेहतर बताएँ। अँगरेज़ी इतिहास के जानने वालों की आँखों के सामने स्काटलैण्ड की उस लड़ाई का दृश्य आ जायगा जिसमें एक असभ्य सिपाही ने घड़ी को जानवर समझा था क्योंकि वह खुट-खुट बोल रही थी। जब उसे सिपाही ने झिझक कर ज़मीन पर पटक दिया और आवाज़ बंद होगई तो कहने लगा कि "मर गई! मर गई!" भगवान राम का मज़ाक भी वानरों के साथ बड़ा ही सुन्दर है और

भगवती सीता के हँसने का तो सीताहरण के बाद यह पहला ही अवसर है। एक ओर तो रावण के लिये—'रहा न कुल कोऊ रोवन हारा' वाला करुणाजनक परिणाम है और दूसरी ओर विभीषण और राम आदि के लिये हँसी-खुशी का समय। मुझे तो हँसी-खुशी वाली लोकोक्ति में एक बड़े मर्म की बात दीखती है। वह यह कि यदि हम हँसी चाहते हैं तो ख़ुशी का पहलू ढूँढें। ख़ुशी के बिना हँसी नहीं।

अब तनिक शिव-बरात के दृश्य को देखिए कि करुण, भयानक और हास्य रसों की कैसी सुंदर मिलावट है। अगवानी के विषय में कवि लिखता है—

करि बनाव सजि बाहन नाना, चले लेन सादर अगवाना।
हिय हर्षे सुर सैन निहारी, हरिहि देखि अति भये सुखारी।
शिव समाज जब देखन लागे, बिडर चलै वाहन सब भागे।
[कैसा अच्छा विरोधाभास तथा हास्य है]।

धरि धीरज तहँ रहे सयाने, बालक सब ले जीव पराने।

[कैसी दो रुखी तस्वीर है। बच्चों के लिये भयानक और अन्य द्रष्टाओं के लिये हास्यपूर्ण]।

गए भवन पूछहिं पितु माता, कहहिं बचनभय कंपित गाता।
[कैसा सच्चा और चलता-फिरता चित्र है]।

बर बौराह बरद असवारा, ब्याल कपाल विभूषण छारा।

[यह चित्र इतना सुंदर है कि यह पद सब के जिह्वा पर रहता है—विशेषतः 'बर बौराह बरद असवारा।' घर के बड़े-बूढ़े असलियत जानते हैं अतः उनके द्वारा कवि ने हास्य को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है]।

समुझि महेश समाज सब जननि जनक मुस्काहिं,
बाल बुझाये विविध विधि निडर होहु डर नाहिं।

श्रीवास्तव जी की चेतावनी को हमें भूल न जाना चाहिए कि किसी दूसरे रस का ज़रूरत से ज़ियादा ज़ोर हुआ और हास्य ग़ायब ! श्री वास्तव जी एक सरल उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब कोई धोखे से तीन टाँग की कुरसी पर बैठ जाता है और गिर पड़ता है तो हमें हँसी आती है परन्तु अगर यही बात किसी छत के छज्जे के कोने पर हो और गिरने वाला मर जाय तो हाहाकार मच जाता है। तुलसीदास के हास्य-रस की चाशनी तो आप चख चुके, अब श्री-वास्तव जी के दृष्टि कोण से इसी दृश्य का करुणा जनक पट देखिए—

मैना शुभ आरती सँवारी, संग सुमंगल गावहिं नारी।
कंचन थार सोह वर पानी, परछन चली हरहिं हर्षानी।
विकट भेष जब रुद्रहि देखा, अबलन उर भय भयहु विशेषा।
भागि भवन पैठीं अति त्रासा, गए महेश जहाँ जनवासा।

यहाँ भय-विशेष और अति-त्रास के कारण अगवानी, परछन, आरती सब ग़ायब ! बेचारी स्त्रियाँ अपनी जान बचा कर भागीं ! और चूँकि पार्वती जी के सारे भविष्य का आधार इसी विवाह पर है अतः कवि हास्य की ओर हमारा ध्यान भी नहीं दिलाता है बल्कि लिखता है—

मैना हृदय भयउ दुख भारी, लीन्हीं बोलि गिरीश कुमारी।
अधिक सनेह गोद बैठारी, श्याम सरोज नैन भरि वारी।
जेहि विधि तुमहिं रूप अस दीन्हा, तेहिं जड़ वर बावर कस कीन्हा॥
कस कीन्ह वर बौराह विधि जेहिं तुमहिं सुंदरता दई,
जो फल चहिय सुर तरुहि सो बरबस बबूरहि लागई।
तुम सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महँ परौं,
घर जाहु अपयश होहु जग जीवित विवाह न हौं करौं।

उसी 'वर बौराह' और पारवती की सुंदरता के विरोधाभास में यहाँ हास्य के बदले करुणा का समुद्र उमंड पड़ता है।

श्री-वास्तव जी हास्यरस के आचार्य हैं जिनकी बदौलत हमारी हिंदी भाषा को न केवल भारतवर्ष में बल्कि समस्त संसार में बड़ा गौरव प्राप्त हुआ है। इस लिये हम उसी नम्रता के साथ अपने मत-भेद को यहाँ प्रगट करते हैं जैसे एक शिष्य अपने गुरु से। यह ठीक है कि और सब रस साहित्य के "दाल भात" हैं, जो हर जगह मिलते हैं पर इसमें भी सन्देह नहीं कि हास्यरस भी साहित्य के नमक जैसा है और अलभ्य नहीं। सच तो यह है कि जहाँ हास्य रूपी नमक न हो वहाँ मज़मून फीका हो रहता है। पारसी-धर्म के एक बुज़ुर्ग ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि हँसने की शक्ति ही मनुष्य को पशु से पृथक करती है। श्रीवास्तव जी ने स्वयं एक जगह लिखा है कि पशु में हँसने का सामर्थ्य इसलिये नहीं है कि उसके 'थूथन' में हँसने वाली कमानी ही नहीं बनाई गई। वे लिखते हैं कि ज़रा किसी को छेड़ दीजिए और वीर एवं रौद्र रस की बौछार देख लीजिए। ज़रा किसी से दुख की बात कहिए तो करुण-रस का समुद्र उमंड़ पड़ेगा। यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि हास्य-रस बच्चे से बूढ़े तक और गाँव से लेकर शहर तक में हर जगह पाया जाता है। मामा-भानजों के मज़ाक, साली, सरहजों की छेड़-छाड़, लड़कों के हँसी खेल, मित्रों की पारस्परिक वार्ता में भी वैसी ही व्यापक है जैसे अन्य रस। इसीलिये तुलसीदास जी का हास्यरस प्रत्येक प्रसंग में व्यापक है और हर जगह पाया जाता है। भगवान के जन्म के समय माता कौशल्या कहती हैं—

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मत थिर न रहै।

इस आध्यात्मिक दृश्य के उपहासपूर्ण पट को कवि ने कितना सुस्पष्ट कर दिया। बचपन में धूल भरे हुए, महाराज दशरथ की गोद में बैठ जाना, दही-चावल खाते मुँह में दही चावल लगाए

हुए भाग जाना, राम की बाल्यावस्था की हास्यपूर्ण घटनायें हैं। प्रस्तावना में कहाँ तक लिखें, हमें तो रामायण का कोई प्रसंग ही हास्य-रस से शून्य नहीं दिखाई देता।

प्रस्तावना के लिये केवल एक आवश्यक बात और रह गई। इसमें शक नहीं कि हास्य सम्बन्धी चरित्र का चित्रण बड़ी कठिन बात है परन्तु यहाँ भी साहित्य-संसार ने एक ग़लती की है और वैसे चरित्र को एक ऐसी पृथक वस्तु बना लिया है जो स्वाभाविक नहीं। कोई व्यक्ति ऐसा हास्य का पुतला हो जिस पर आदि से अंत तक हँसी ही आए—ऐसा होना तो ठोस संसार में असम्भव है, हाँ नक्क़ालों को बात ही और है। इसीलिये तुलसीदास ने कोई पृथक हास्य-चरित्र नहीं बनाया परन्तु शिव-विवाह और नारद-मोह वाले प्रहसनों में उन दोनों महापुरुषों के जीवन की ऐसी हास्य-जनक घटनायें दी हैं कि सराहते ही बनता है। यदि वैसा चरित्र अपना पृथक ही व्यक्तित्व रखे तो कोई शिक्षा नहीं मिलती। वह तभी मिलती है जब साधारण व्यक्ति की कोई हास्यप्रद त्रुटि दिखाई जाय। न "भंग घुटना बाबा" का सारा जीवन हास्यप्रद है और न देवर्षि नारद का, हाँ, बरात सजने के समय से शिवजी हास्यरस के अच्छे खासे चरित्र बने हुए हैं। कवि लिखता है—

शिवहि शंभुगण करहिँ सिँगारा, जटा मुकुट अहि मौर सँवारा।
कुंडल कंकन पहिरे व्याला, तन विभूति कटि केहरि छाला।
शशि ललाट सुन्दर शिर गंगा, नैन तीन उपवीत भुजंगा।
गरल कंठ उर नर शिर माला, अशिव वेष शिव धाम कृपाला।
कर त्रिसूल अरु डमरू विराजा, चले वसह चढ़ि बाजहिँ बाजा।

आह कितना हास्यप्रद शृङ्गार और वेष है। इसीलिये तो कवि लिखता है—

देखि शिवहिँ सुरतिय मुसकाहीं, वर लायक दुलहिन जग नाहीं।

थोड़ी देर बाद भगवान विष्णु भी कहते हैं—

विलग विलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज,

....

वर अनुहार वरात न भाई। हँसी करैहो पर पुर जाई,

सब लोग मुसकरा देते हैं और स्वयं शिवजी में इतनी हास्य प्रियता (Sense of humour) है कि मन ही मन वे भी मुसकराते हैं। सूक्ष्मता की वात यह है कि खेलाड़ी प्रत्यक्ष नहीं हँसता। कवि लिखता है :—

मन ही मन महेश मुसकाहीं, हरि के व्यङ्ग वचन नहिं जाहीं।

श्रीवास्तव जी ठीक कहते हैं कि हास्यप्रिय व्यक्ति ख़ुद भी अपने ऊपर हँसता है और नाख़ुश नहीं होता। परन्तु इसे श्रीवास्तव जी परिहास करते हैं। मेरी राय में तुलसीदास की भाषा में इसे उपहास कहना चाहिए जैसा कि कौशल्या जी के उपरि लिखित शब्दों से प्रगट है। 'परिहास' शब्द को तुलसीदास ने महाराज दशरथ से कैकेयी के संबंध में उस समय प्रयुक्त कराया है जब महाराज ख़ुशामद करते हुये कैकेयी से कहते हैं कि यदि तुम ने यह क्रोध का स्वाँग मुझे वेवकूफ़ बनाने और परिहास के लिये रचा हो तो साफ़ वता दो। आशय स्पष्ट है। तुलसीदास जी उपहास उसे कहते हैं जब हँसी करने वाला अपने ऊपर भी हँसे और परिहास उसे, जब दूसरे को वेवकूफ़ बनाने की कोशिश करते हुये उसी दूसरे पर हँसा जाय। अस्तु। वात वही है, केवल शब्दों का उलट-फेर है। श्रीवास्तव जी की परिभाषा में शिव जी का चरित्र चित्रण "वौखल"—हास्य-चरित्र की एक वढ़िया मिसाल है और इसीलिये तुलसी जी भी "वर वौराह"—शब्द वार वार लाते हैं। परन्तु यहाँ हास्य ज्ञात है, अज्ञात नहीं।

अव घमंडी और प्रेम व्यथित हास्य-चरित का उदाहरण नारद-मोह वाले प्रहसन में देखिए जहाँ शुरू से अख़ीर तक अज्ञात हास्य हैं। नारद जी राज-कन्या की सुन्दरता से प्रभावित हो भगवान विष्णु

से अपने लिये सुन्दरता माँगते हैं परन्तु कौतुकी भगवान उन्हें वन्दर का रूप दे देते हैं जिसकी उन्हें खबर नहीं। वे ख़ुशी से फूले नहीं समाते और अपनी सुन्दरता के घमंड में यह समझते हैं कि राजकन्या मेरे सिवा किसी और को पसन्द ही न करेगी कवि लिखता है—

जेहिं समाज बैठे मुनि जाई, हृदय रूप अहमित अधिकाई।

(नारद को पहले काम पर विजयी होने का घमंड था तो अब काम-विजित होकर अपनी सुन्दरता पर घमंड है, पर असलियत का पता नहीं)।

तहँ बैठे महेश गण दोऊ, विप्र वेश गति लखै न कोऊ।
करहिं कूट नारदहिं सुनाई, नीक दीन्ह हरि सुन्दरताई।
रीझहि राजकुँवरि छवि देखी, इनहिं वरहि हरि जान विशेषी।

कितना सुन्दर हास्य है और फिर मजा यह कि कवि स्वयं व्याख्या भी करता जाता है। इसीलिये मेरी धारणा है कि तुलसीदास जी अपनी कविता के वड़े ही अच्छे आलोचक हैं और उनकी काव्य-शक्ति को अपनी कला का पूरा ज्ञान है। इसीलिये वे लिखते हैं—

मुनिहिं मोह मन हाथ पराये, हँसहिं शंभुगण अति सचुपाए।

वाक़ई प्रेम ने नितान्त आसक्त बना दिया है और मोहाधिक्य से कुछ सूझता नहीं। हृदय दूसरे के अधिकार में जा चुका है। शिव गणों का मुसकराना ग़ज़व का है सही पर उससे भी नारद की आँख नहीं खुलती। कवि लिखता है—

यदपि सुनहिं मुनि अटपट वानी, समुझि न परै वुद्धि भ्रम सानी।

मगर कवि ने देवर्षि नारद की इज्ज़त भी बचा ली। उनका वह वानर वाला रूप या तो राजकन्या देखती है या शिवगण। कवि लिखता है—

काहु न लखा सो चरित विशेखी, सो सरूप नृप कन्या देखी।

अब तनिक नारद जी की अवस्था का वर्णन देखिए और कवि के हास्य-चित्रण की प्रशंसा कीजिए :—

जेहिं दिशि बैठे नारद फूली, सो दिशि सो न विलोकेउ भूली।
पुनि पुनि मुनि उकुसहिं अकुलाहीं; देखि दशा हरगण मुसकाहीं।

व्यावहारिक हास्य प्रयोग (Practical joke) बड़ा ही सुन्दर है। इसका सरल साधारण नमूना कभी-कभी अपने घरों में दिख जाता है जब सरहजें और सालियाँ सोते हुए 'लल्ला' का सिंगार सिंदूर आदि से कर देती हैं और जब वह जागकर बातें करने लगता है तो सब हँस पड़ती हैं और उस बेचारे को पता नहीं होता कि यह ज़ोरों की हँसी क्यों हैं। तनिक देर बाद किसी बहाने से दर्पण सामने रख दिया जाता है तब लल्ला जी झेंप जाते हैं और फिर एक हँसी का तूफ़ान आ जाता है। यही बात शिवगणों ने भी की और इशारे के साथ नारद से कह दिया कि तनिक दर्पण में मुँह तो देखिए इत्यादि।

श्रीवास्तव जी का यह कहना ठीक है कि बहुधा अज्ञात हास्य का नायक चिड़चिड़ा होता है। नारद ने जब अपना मुँह पानी में देखा तो उनके क्रोध की सीमा न रही। भगवान विष्णु को शाप भी दे डाला और उनके प्रति ऐसे कटु शब्द प्रयुक्त किए जिनका ठिकाना नहीं। शायद ही किसी और विष्णु भक्त ने ऐसा किया होगा। पर भगवान तो बड़े ही कौतुकी खिलाड़ी हैं। जिस लुत्फ़ से उन्होंने मज़ाक किया उसी भाव से नारद के वचन प्रहार को भी सह लिया। सच है, मजाक़ करना उतना कठिन नहीं जितना उसका सह लेना। सिर्फ़ नमूने के तौर पर नारद के कुछ वैसे वाक्य नीचे दिए जाते हैं :—

असुर सुरा विष शंकरहिं आपु रमा मणि चारु,
स्वारथ साधक कुटिल तुम सदा कपट व्यवहारु।

प्रस्तावना के लिये काफ़ी लिखा जा चुका। अब आगे लेखों में पहले हम सब हास्य सूत्रों के उदाहरण रामायण से देंगे और उसके बाद विविध प्रकार के हास्य-चरित्रों के उदाहरण भी विस्तार के साथ पेश करेंगे जिसमें पाठकों को भली भाँति मालूम हो जाय कि तुलसी-कृत रामायण में हास्य रस भी सर्वाङ्ग पूर्ण है।

नोट—जिन्हें 'मूर्ख' शब्द में शंका हो वह 'घामड़' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त व्याख्या में कर सकते हैं पर 'विदूषक' शब्द नहीं। कारण, अङ्गरेज़ी में भी विदूषक के लिये 'क्लाउन' (Clown) शब्द है। चाहे 'मूर्ख' कहिये या 'घामड़' वास्तव में है वह लियर का विदूषक ही जिसके हृदय पर उसकी बेवक़ूफ़ी से चोट लगी है और जो अब 'घामड़' बन कर अपने भाव प्रकट कर रहा है।

फतेहपूर (१९३७ ई०)

राजबहादुर लमगोड़ा
एम० ए०, एल० एल० बी०

(क) हास्यरस के मौलिक सिद्धान्त

झा महोदय ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में पाश्चात्य जगत के लगभग सभी बड़े-बड़े विद्वानों के हास्यरस संबंधी विचार उद्धृत कर दिये हैं। वे विचार हमारे साहित्य के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं अतः उन्हें हम भी उद्धृत करते हैं।

पाश्चात्य जगत में साहित्य ही क्या, अनेकानेक विद्याओं का श्री गणेश हकीम अरस्तू से होता है। उनकी राय में हास्यरस का आधार अनमिल-बे जोड़पन (Incongruity) पर है। श्रीवास्तव जी भी लिखते हैं, कि "हास्य का आधार विशेष कर उलटी बातों पर निर्भर होता है।" परन्तु यह याद रहे कि हर उल्टी बात से हास्य-रस पैदा नहीं होता। इसलिये वही उलटी बात उस रस के अन्तर्गत मानी जायगी जिससे हँसी पैदा हो। वाल्टेयर (Voltaire) ने ठीक कहा है कि क़हक़हा मारना हमारे दिल की .ख़ुशी पर निर्भर है, परन्तु उसका भाव क्रोध तथा घृणा से नितान्त भिन्न है। कार्लाइल (Carlyle) का भी कहना है कि यद्यपि हास्य का संबंध हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क से अधिक है पर उसका लगाव प्रेम से है, घृणा से नहीं। कार्लाइल का सिद्धान्त यह भी है कि हास्य का प्रगटीकरण क़हक़हे में नहीं बल्कि मुस्कान में होता है जो अधिक गहरी चीज़ है। श्रीवास्तव जी भी कहते हैं कि "हास्य बुद्धिमान ज्ञानी समझदारों के लिये है क्योंकि उसका घना संबंध दिमाग़ से है। दिल से नहीं।" मुझे तो इन सारे कथनों में "हंशी .ख़ुशी" वाली जन-श्रुति का पुष्टिकरण ही प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ क्रोध, घृणा या कोई दूसरा रस अधिक हुआ कि हास्य जाता रहा। श्रीवास्तव जी बिलकुल ठीक कहते हैं "हास्य के सभी रस दुश्मन हैं।" पाश्चात्य

जगत का काव्य शास्त्र (Prosody) इस गुत्थी को सुलझा नहीं सका, क्योंकि वहाँ काव्य का विभाग रसों के विभाग पर निर्भर नहीं है और इसीलिये शंका रह जाती है। उदाहरणार्थ देखिए कि हकीम अरस्तू का यह कथन तो ठीक है कि अनमिल बे-जोड़पन से हास्य पैदा होता है परन्तु प्रत्येक विरोध से हँसी नहीं आती। अयोध्या-काण्ड में पहले राम के युवराज-तिलक होने की खबर मिलती है और फिर परिस्थिति बिलकुल विपरीत होकर राम को वन-वास दिलाती है। परन्तु हमें इस पर हँसी नहीं आती बल्कि रोना आता है। तुलसीदास जी लिखते हैं—

का सुनाय पुनि काह सुनावा, का दिखाय यह काह दिखावा।

इस पद के पढ़ने पर आँसू आ जाते हैं। यही बात घृणा और क्रोध के संबंध में भी ठीक है। जहाँ ये दोनों भाव अधिक हुए कि हास्य-रस गया। निम्न उदाहरण से तुलसी का हास्य संबंधी सूक्ष्म ज्ञान स्पष्ट हो जायगा और हमें पता लग जायगा कि हास्य-रस को घृणा एवं क्रोध से विभाजित करने वाली रेखा कितनी सूक्ष्म और कहाँ है। यह भी स्पष्ट हो जायगा कि मखौल उड़ाने वाली घृणा कहाँ तक हास्य-रस में शामिल समझी जाती है। लक्ष्मण जी परशुराम से कहते हैं—

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया, परिहरि कोप करिय अब दाया।
टूट चाप नहिं जुरहि रिसाने, बैठिय होइहैं पायँ पिराने।
जो अति प्रिय तौ करिय उपाई, जोरिय कोउ बड़ गुनी बुलाई।

यहाँ तक तो मखौल हास्य-रस-परिधि के भीतर है और हमारे हृदय में उसकी गुदगुदी बनी हैं। परन्तु आगे बढ़ कर जहाँ क्रोध एवं घृणा का आवेग बढ़ा कि हास्य-रस हवा हो गया। लक्ष्मण कहते हैं—

भृगुवर परसु दिखावहुँ मोहीं, विप्र विचारि बचौ नृप द्रोही।
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े, द्विज देवता घरहिं के बाढ़े।

यह वीर-रस भले ही हो परन्तु हास्य कदापि नहीं। तुलसी जी भी चितावनी देते हुए साफ़ कहते हैं कि—

अनुचित कहि सब लोग पुकारे,

और राम जी लक्ष्मण को इशारे से मना करते हैं जैसा कि निम्नलिखित द्वितीय चरण से प्रगट है—

सैनहिं रघुपति लक्षन निवारे।

हास्य का संबंध कुछ न कुछ प्रेम एवं प्रसन्नता से है पर "द्विज देवता घरहिं के बाढ़े" में तो घृणा हास्य-सीमा के बाहर हो जाती है। परन्तु "बैठिये होइहैं पायँ पिराने" में प्रेम की मात्रा भी शेष रहती है और घृणा भी इतनी नहीं है कि दिल की गुदगुदी बिलकुल मिट जाय। श्रीवास्तव जी इस अंतर को एक उदाहरण से सुन्दरता के साथ प्रगट करते हैं। उन्होंने लिखा है कि यदि कोई धोके में बैठते हुए तीन टाँगों वाली कुरसी से गिरता है तो हम हँस पड़ते हैं पर यदि यही घटना किसी मकान के दुमंज़िले के छज्जे पर हो और गिरने वाले की हड्डी-पसली टूट जाय तो रोना-पीटना मच जाता है।

अंगरेज़ी साहित्य के विद्वान हास्य को बहुधा तीन भागों में विभाजित करते हैं। पहला व्यंग (humour) जिसमें जिस व्यक्ति पर हँसी आये उसके साथ प्रेम बना रहे। बहुधा तो प्रेम और बढ़ जाता है। देखिए, राम जी के बालपन का कैसा सुंदर चित्र तुलसीदास ने खींचा है:—

धूसर धूरि भरे तनु आए, भूपति बिहँसि गोद बैठाए।

भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाय,

भाजि चले किलकात मुख दधि ओदन लपटाय।

इसमें राम के प्रति कितना प्रेम उत्पन्न होता है। सच है, ऐसे बालक को पिता क्या, कोई भी हँस कर गोद में बैठा लेगा। दूसरा, तार्किक व्यंग (wit), जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है और जो

बहुधा 'हाज़िर जवाबी' के रूप में प्रगट होता है जिसमें शाब्दिक प्रयोगों का चमत्कार हो। परशुराम जी कहते हैं—

गुरुहिं उरिन होतेहुँ श्रम थोरे।

लक्ष्मण जी का उत्तर है :—

मातहिं पितहिं उरिन भये नीके, गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के।
सो जनु हमरे माथे काढ़ा, दिन बहु गए ब्याज बहु बाढ़ा।
अब आनिय व्यवहरिया बोली, तुरत देहुँ मैं थैली खोली।

'ऋण' और 'उऋण' दोनों शब्दों के आधार पर ही लक्ष्मण जी ने सारी योजना पेश कर दी। याद रहे कि तुलसी जी केवल शाब्दिक 'ज़िला-जुगुत' को साहित्य में कोई आदर का स्थान नहीं देते। उनके शाब्दिक व्यङ्गों में मस्तिष्क की प्रधानता भले ही हो पर वह भाव-शून्य नहीं होते, जैसा कि नाटकों में अकसर पाया जाता है। इस दोष से तो कविवर शेक्सपियर भी नहीं बच सके। तीसरा भाग "कटाक्ष" है जिसमें कुछ न कुछ घृणा अवश्य उत्पन्न होती है। इसका उदाहरण 'द्विज देवता घरहिं के बाढ़े' आदि में पहले आ चुका है। हम यह भी बता चुके हैं कि तनिक भी सीमोल्लंघन से हास्य-रस फीका पड़ जाता या मिट जाता है। अन्तर बहुत सूक्ष्म है। बहरहाल जैसा पहले ही कहा जा चुका है, 'हैमलेट' में क़बर खोदने वालों के व्यंग-वचन बहुधा हास्य की सीमा से बाहर हो जाते हैं, विशेषतः जब खोपड़ी हाथ में लेकर और उसे सूंघते हुए कहा जाता है कि "यह तो बहुत बदबू करती है. छी! छी!" तो स्पष्ट ही बीभत्स-रस आ जाता है। तुलसी जी ने नारद-मोह और शिव-विवाह के प्रसंगों में पहले भाग का प्रयोग ऐसी सुन्दरता से किया है कि हमें नारद और शिव से प्रेम ही बना रहता है और घृणा पैदा नहीं होती।

'मुसकान' और 'क़हक़हे' के अन्तर पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि पश्चिमी विद्वानों ने भी मुसकान को ही अधिक

आदरणीय मानते हुए उसे क़हक़हे से अधिक गम्भीर बताया है। तुलसी का मंतव्य भी ऐसा ही जान पड़ता है—यहाँ तक कि उन्होंने राम के चरित्र-चित्रण में 'मुदित मन' को स्थायी स्थान दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि तुलसी का आध्यात्मिक मत यह है कि आत्मा के पूर्ण विकास में आंतरिक आनंद और वाह्य मुस्कान साथ-साथ पैदा होते हैं और फिर यह मुस्कान सांसारिक परिस्थितियों से कुछ देर के लिये भले ही प्रभावित हो पर मिटाई नहीं जा सकती। राम और लक्ष्मण वन को गए परन्तु उनकी प्रसन्नता उनके साथ रही, और इस तरह साथ रही कि सभी दर्शकों ने उसे अनुभव किया। उसके वाद जब भरत और शत्रुघ्न राम-मिलन को चले तो उनके मुखों पर प्रसन्नता न थी। साधारण स्त्रियों ने भी उस अन्तर को अनुभव किया जिसे कवि के शब्दों में सुनिये :—

मुख प्रसन्न नहिं मानस खेदा, सखि संदेह होत यहि भेदा।

धनुषयज्ञ में राजाओं के निष्फल उद्योगों के वारे में लिखते हुये कवि कहता है—

तमकि ताकि तकि-तकि धनु धरहीं, उठै न कोटि भाँति वल करहीं।

चित्र ऐसा है कि मुस्कान अवश्य आ जाती है। पर आजकल के धनुषयज्ञ खेलने वाले केवल अट्टहास (क़हक़हा) पैदा करने के लिये प्रसंगों को इतना बढ़ा देते हैं कि वे राज-सभा के निमित्त नितान्त अनुचित वन जाते हैं।

अब तनिक निषादों की भरत से लड़ने के लिये तैयारी का चित्र देखिए। कवि लिखता है :—

अंगिरि पहिरि कुंड सिर धरहीं, फरसा वाँस सेल सम करहीं।

खूब! यह तैयारी है भरत की चतुरंगिणी सेना से लड़ने की! आगे और देखिए :—

एक कुशल अति ओढ़न खाँडे, कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँडे।

बेसमझ को यहाँ क़हक़हा आये तो आये, नहीं तो परिस्थिति

की गम्भीरता उसे मुस्कान तक ही सीमित रखती है। हाँ इस उछल-कूद वाले प्रसंग को तो हँसे-बिना नहीं पढ़ा जा सकता।

बहरहाल तुलसी जी ने अट्टहास को अपने सर्वोत्तम चरित्र राम से कभी संबद्ध नहीं किया परन्तु उनमें हास्यरस की मात्रा बराबर बनाये ही रखी है।

तुलसीदास जी हास्य-रस के ऐसे प्रेमी जान पड़ते हैं कि उन्होंने उस रस का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं दिया, यहाँ तक कि अपने सर्वोत्तम चरितनायक राम की भी यथा समय हँसी की है। परन्तु उसी प्रकार से कि उनके प्रति हमारा प्रेम और बढ़े, घटे नहीं। देखिए, राम जी समुद्र से विनय कर रहे हैं और इसकी सूचना दूतों द्वारा रावण को पहुँच गई। दूतों की बात सुन कर रावण ने कहा :—

सुनत वचन विहँसा दस सीसा, जो असिमति सहाय कृत कीसा।
सहज भीरु करि वचन दृढ़ाई, सागर सन ठानी मचलाई।

अन्तिम चरण में कितना सुन्दर व्यंग है जो कटाक्ष तक पहुँचता है पर हास्य-रस की सीमा से बाहर नहीं जाता। विनय वाली बात लक्ष्मण को भी अच्छी न लगी थी और वह कह उठे थे कि:—

कायर मन कर एक सहारा, दैव दैव आलसी पुकारा।

यहाँ अलबत्ता कटाक्ष हास्य की सीमा से बाहर निकल गया। मेरीडिथ (Meredith) का कहना सच है कि हास्य वाले चरित्र की किसी त्रुटि से हम में विचारपूर्ण हास्य की गुदगुदी पैदा होनी चाहिए, जिससे स्पष्ट है कि हम मस्तिष्क से उस त्रुटि के होने का अनुभव करें और तब दिल की गुदगुदी से हँसें। पर यह याद रहे कि झा महोदय के कथनानुसार व्यंग ऐसा न होना चाहिए जो हास्य-चरित्र के लिये दुःखद हो। इस कसौटी पर कसने से लक्ष्मण के वाक्य हास्य-रस की परिधि से बाहर निकल जाते हैं, पर भगवान

राम में उदारता एवं उपहास (Sense of humour) का इतना ठीक अनुभव है कि वह उन वाक्यों से दुखी नहीं होते और लक्ष्मण से यही कहते हैं कि तनिक धैर्य धरो, मैं वैसा ही करूँगा जैसा तुम कहते हो।

झा महोदय ने बड़े गौरव से लिखा है कि रानी एलिज़बेथ के समय वाली नाटक-कला में करुण एवं हास्यरसों का मिश्रण दीखता है। उनका कहना है कि शेक्सपियर, वालपोल (Walpole) के इस कथन से कभी सहमत नहीं था कि संसार उस मनुष्य के लिये दुःखमय है जो अनुभव करता है और संसार उस मनुष्य के लिये मखौल की चीज़ है जो विचार करता है। झा जी कहते हैं कि शेक्सपियर की कला में आँसू हैं पर उसके साथ हँसी भी है, क्योंकि कवि का मौलिक सिद्धान्त यही जान पड़ता है कि जीवन जीवन-योग्य है। शेक्सपियर में दुःखान्त नाटकों के वर्षों तक रहने वाले तूफ़ान के बाद भी आशाप्रद-विचार-दृष्टिकोण शेष ही रहता है। उसका नायक प्रास्पेरो कहता है कि "खुश रहो क्योंकि जैसा मैंने पहले बताया है, ये मेरे चरित्र रूहें (Spirits) हैं जो वायु में विलीन हो गईं"। उसने दुनिया के ऊँचे से ऊँचे महलों को स्वप्न-सामग्री ही बताया है और मृत्यु को भी जीवन का अंतिम स्वप्न ही कहा है। यह विचार केन्द्र उसी समय ठीक जान पड़ेगा जब हम उस कवि के सभी नाटकों को एक साथ पढ़ें, पर साधारणतः नाटक के दुःखान्त एवं सुखान्त वाले कृत्रिम विभाजन के कारण उसके दुःखान्त नाटकों के अन्त में हमें निराशा ही दिखती है, और यदि आशा की झलक कहीं होती भी है तो बड़ी धुँधली। इन दुःखान्त नाटकों तथा उपन्यासों ने ही पश्चिमी देशों में आदर्श वाद एवं आत्मवाद की मिट्टी पलीद कर रक्खी है। वहाँ का नैतिक दृष्टिकोण तो मैकबेथ का ही यह दृष्टिकोण जान पड़ता है कि "जीवन किसी पागल की कही हुई कथा है।" पं० जवाहरलाल जी भी जो किसी विशेष-धर्म

के अनुयायी नहीं, इतना अवश्य कहते हैं कि यदि हमारी श्रद्धा अटल नैतिक नियमों पर न हो तो वस्तुतः मैकवेथ का वह कथन ही सत्य होगा। यदि हम प्रास्पेरो के सिद्धान्त को ही कवि का नैतिक सिद्धान्त मान लें तो भी अन्ततः वह नकारात्मक ही है और तुलसी के उस कथन तक पहुँचता है जो उन्होंने लक्ष्मण से कहलाया है कि :—

सपने होहिं भिखारि नृप रंक नाकपति होय,
जागे हानि न लाभ कछु अस प्रपंच जिय जोय।

देखिए, प्रास्पेरो के कथन में इतना भी नहीं। वहाँ स्वप्न के बाद जाग्रतावस्था का वर्णन नहीं, फिर भला उसमें तुलसी की इस प्रबल आस्तिकता का पता कहाँ कि—

निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध ?

संसार स्वप्न नहीं, वह ईश्वरीय सत्ता से ओत प्रोत है। कवि ने रामायण का प्रारम्भ करते कहा था—

राम सीय मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि युग पानी।

उसके बाद हमने हँसी भी देखी और खुशी भी, नीचा भी देखा और ऊँचा भी, माया भी थी और मोह भी, काम भी था और क्रोध भी, पर इस सारे चक्कर में होते हुए फिर हम वहीं पहुँचा दिए जाते हैं और पुस्तक बन्द करते समय हम जगत को 'निज प्रभुमय' ही देखते हैं और विरोध-भाव शेष नहीं रहता। इसीलिये तो अनन्य सेवा एवं भक्ति का उच्चतम आदर्श बताते हुए राम ने कहा है कि—

सोई अनन्य जाके असि मति न टरे हनुमन्त,
मैं सेवक सचराचर रूप राशि भगवन्त।

और स्मरण रहे कि तुलसी की कला में स्वयं कवि तथा शिव पार्वती आदि वाली महा व्यक्तियाँ आलोचक और पथ-प्रदर्शक बन कर हमारे साथ हैं अतः हमें भूलने की सम्भावना नहीं और न झा महोदय तथा डा० मिलर जैसे बाह्य आलोचकों की विशेष

आवश्यकता है। इसीलिये रामायण का प्रभाव स्थायी होता है न कि संशय पूर्ण।

(ख) श्रीवास्तव जी के हास्य-सूत्र और उनके उदाहरण।

श्रीवास्तव जी ने साफ ही कहा है कि अरस्तू के समय में पतन (Degradation) ही हास्य का कारण-विशेष समझा जाता था और यद्यपि साहित्यिक खोजों ने अन्य कारण भी खोज निकाले हैं परन्तु उपर्युक्त कारण की विशेषता अब भी मानी जाती है। हास्य के इस अंग के लिये श्रीवास्तव जी ने एक सूत्र भी बना डाला है कि "बोल गई माई लार्ड कुकड़ूँ कूँ"। राम चरित मानस की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं कि "इसी सूत्र के अनुसार चरित्र तथा परिस्थिति ढाल कर परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में परशुराम से कुकड़ूँ कूँ बुलवाई है।" श्रीवास्तव जी का यह कथन भी सत्य है कि हास्य का कुशल कलाकार हास्य को ठीक उस होशियार डाक्टर की तरह प्रयुक्त करता है जो दोष को तनिक उभार कर उसे औषधि तथा किसी प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देता है। इसीलिये हास्य-रस नैतिक उद्धार का सहायक बनाया जा सकता है। श्रीवास्तव जी के उपर्युक्त संकेतों की रोशनी में अब हम नारद-मोह और धनुष यज्ञ की विशेष विस्तृत आलोचना करेंगे कि तुलसी की हास्य-कला का मर्म अधिक स्पष्ट हो सके।

नारद-मोह

गांधी जी ने ठीक कहा है कि ईश्वरीय शक्तियाँ हमारे द्वारा काम करना उसी समय आरम्भ करती हैं जब हम अपने वैयक्तिक अहंकार को शून्य-गणना में पहुँचा दें। सच है कि यह अहङ्कार ही है जो वैयक्तिक दोषों को फुलाए रहता है। नारद जी को एक समय

'काम' पर तनिक विजय मिली और अहङ्कार आ धमका। नारद ने पहले अपनी काम विजय की कथा बड़े गर्व से इन्द्र-सभा में बयान की। सभासदों ने भी तनिक प्रशंसा करदी, बस फिर क्या था, नारद फूले न समाए। कवि लिखता है—

तब नारद गवने शिव पाहीं, जिता काम अहमित मन माहीं।

अहंकार का असर चाल पर भी संकेत रूप में दिखा दिया गया है जिसका लुत्फ़ सिनेमा देखने वाले समझ लेंगे। आज अहंकार नारद जैसे देवर्षि को कामारि शिव के पास इस हेतु लिये जा रहा है कि मानो शिवजी को एक दूसरे कामारि प्रतिद्वंद्वी का दर्शन करा दे। नारद वहाँ भी शिव जी को अपना सारा वृत्तान्त बड़े जोरों से कह सुनाते हैं, परन्तु शंकर जी बुरा नहीं मानते और अपने नाम को सार्थक करते हुए नारद के कल्याण के लिये ही उपदेश करते हैं और कहते हैं कि भाई! कहीं इस कथा को इसी तरह विष्णु के सामने न कहना, इतना ही नहीं बल्कि यदि प्रसंगवश कभी ज़िक्र छिड़ जाय तब भी टाल जाना। भला अहंकार-पूर्ण नारद को यह उपदेश क्यों भाने लगा। उन्हें तो चारों ओर अपनी तारीफ़ करनी थी। यहाँ से प्रहसन को शुरू करते हुए कवि लिखता है—

भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान,

यहाँ से इतना सुन्दर प्रहसन है जिसका जवाब साहित्य-जगत में मिलना अवश्य ही कठिन है। इसीलिये मैं नारद-मोह और शिव विवाह को प्रहसन-कला के बड़े अच्छे नमूने कहा करता हूँ। विशेषतः नारद-मोह में तो हास्य-रस कूट-कूट कर भरा हुआ है, हाँ शिव-विवाह में वह अवश्य आंशिक ही है। हमने अभी नारद-पतन का प्रारम्भ देखा है, अब हास्यकार पहले पतन को ही उभारेगा और फिर नारद की हँसी उड़ा कर एक कुशल चिकित्सक की भाँति उनके आत्मा को शुद्ध कर देगा और हास्य-रस को भी आत्मोद्धार का साधन बनाकर उसे भी अन्य रसों की तरह शान्त-रस के उच्च

शिखर पर पहुँचा देगा। "कौतुक" शब्द में हास्य का संकेत है और "हरि इच्छा"—शब्दों से साफ प्रगट है कि हास्य-रस किसी नैतिक उद्देश से ही प्रयुक्त किया जा रहा है जिसमें हरि की इच्छा शामिल है।

नारद जी विष्णु भगवान के पास पहुँचते हैं। कवि लिखता है :—

बोले बिहँसि चराचर राया।

यह मुस्कान गज़ब की है और साफ़ बता देती है कि भगवान सारे रहस्य को समझ गए। नारद तो अहंकार में भरे थे ही, तनिक से प्रश्न पर सारा प्रसंग कह सुनाया। परम कौतुकी भगवान विष्णु की लीला देखिए। कवि लिखता है—

रूख ❀ बदन करि वचन मृदु बोले श्री भगवान,
तुम्हरे सुमिरन से मिटहिं मोह मार मद मान।

मज़ाक़ का लुत्फ़ ही यह है कि मजाक करने वाले की किसी बात से पता न लगे कि वह मजाक कर रहा है, नहीं तो हास्य पात्र चौंक जायगा और हास्य का वार पूरा न पड़ेगा। इसीलिये तो भगवान ने रूखा मुँह कर के नारद की तारीफ़ के पुल बाँध दिए। नारद का अहंकार और भी उभर आया और वह नम्र-भाव से (जो अहंकार का रूपान्तर ही है) कहने लगे :—

नारद कहेउ सहित अभिमाना, कृपा तुम्हारि सकल भगवाना।

अभिमान का यह रूपान्तर कितना विचित्र है। नारद के चले जाने पर कवि ने भगवान के विचारों को व्यक्त किया जिसे वे लोग विशेषतः समझ सकेंगे जिन्होंने शेक्सपियर के चरित्रों की स्वगत वार्ताओं का आनन्द उठाया है। मज़ा यह है कि प्रहसन के द्रष्टाओं

❀ तुलसीदास के चित्रों में ऐसे सूक्ष्म सङ्केत तथा प्रगतियाँ मौजूद हैं जो आज कल के फ़िल्म कलाकारों की कला से टक्कर खाती हैं। ले०।

पर सारा रहस्य खुल जाता है परन्तु हास्य-पात्र को पता नहीं चलता। भगवान वस्तुतः बड़े ही कुशल नैतिक चिकित्सक के रूप में दिखाई पड़ते हैं और अहंकार को जड़ से उखाड़ने की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं :—

बेगि सु मैं डारिहौं उखारी, पन हमार सेवक हितकारी।
मुनि करि हित मम कौतुक होई, अवसि उपाय करब हम सोई।

वाक़ई हास्य-रस का उचित प्रयोग यही है कि हास्य-पात्र का हित हो और साथ ही हम सब का कौतुक भी हो जाय, पर घृणा की मात्रा न बढ़ने पाये।

भगवान की माया से मार्ग में एक नगर भी बस गया और वहाँ के राजा की सुन्दर राजकुमारी का स्वयम्बर भी रच गया। जब नारद राज दर्बार में पहुँचे तो राजा ने उस लड़की को नारद के सामने पेश किया और उसके गुण-दोष तथा भाग्य के बारे में प्रश्न किए। लड़की को देखते ही नारद को माया ने ऐसा घेरा कि वह काम वश हो लड़की की सुन्दरता पर आसक्त हो गए। पतन का यह हाल हुआ कि काम की विजय वाले मार्के को भूल गए और आग पर रखे हुए बाल की तरह नैतिक शृङ्खला की कड़ियाँ खटाखट टूट गईं और एक दोष के बाद दूसरा पैदा होता चला गया। नारद बड़ी देर तक लड़की को देखते रह गए। जब उसका हाथ दिखाया गया तो मन गढ़न्त गुण-दोष बता गए, पर दिल में यही सोचते रहे कि वह किस प्रकार प्राप्त की जाय। नारद के विचारों को कवि ने यों व्यक्त किया है :—

करौं जाय सोइ जतन विचारी, जेहिं प्रकार मोहिं वरै कुमारी।
जप तप कछु न होइ यहि काला, हे विधि मिलै कौन विधि बाला।
यहि अवसर चाहिए परम सोभा रूप विसाल।
जो बिलोक रीझै कुंवरि तव मेलहि जैमाल।

सच है, जादू वही जो सिर पर चढ़ कर बोले! यह देवर्षि नारद

हैं या काम पीड़ित 'मजनूं' जो अपने ख़यालों पुलाव में मग्न हैं जिन विष्णु भगवान से अपने काम-विजय की बड़ी-बड़ी डींगें मारी थीं उन्हीं से अपनी काम वासना की पूर्ति के निमित्त आज अपने लिये सौन्दर्य माँगने जा रहे हैं! फिर व्याकुलता और उतावली का यह हाल है कि सोच रहे हैं कि यदि क्षीर सागर या स्वर्ग तक गया तो—

होइहि जात गहरु अति भाई।

'भाई' का शब्द बड़ा ही मार्मिक है। नारद जी वहीं भगवान की विनती करनी शुरू कर देते हैं और कवि लिखता है कि—

प्रगटे प्रभु कौतुकी कृपाला।

कौतुक कितना सुंदर है, इसका पता तो हमें अभी लग जायगा। कृपा के स्पष्टीकरण के लिये तनिक ठहरना पड़ेगा। इसके उपरान्त कवि ने नारद का 'अति आरत' होकर सारे प्रसंग का सुनाना आदि लिखा है। सारा प्रसंग हास्य-रस की सूक्ष्म श्रेणियों से निर्मित हुआ है और बड़ा ही रुचिकर है। अंतिम प्रार्थना बड़ी ही मजेदार है और ऐसे रूप में रखी गई है कि श्लेष पैदा हो जाय। नारद कहते हैं—

आपन रूप देहु प्रभु मोहीं, आनि भाँति नहिं पावहुँ ओहीं।
जेहि विधि नाथ होइ हित मोरा, करहु सुवेग दास मैं तोरा।

बस, इसी अंतिम पद की प्रार्थना में लीलामय भगवान को कौतुक एवं कृपा दोनों के दिखाने का अवसर मिल गया। वह "हिय हँसि" यों कहते हैं कि नारद! मैं वही करूँगा जिसमें तुम्हारा "परमहित" हो; देखो रोगी कुपथ्य माँगता है पर वैद्य उसे देता नहीं। यह उत्तर कितना स्पष्ट है परन्तु काम पीड़ित मोहांध नारद को कुछ सूझ नहीं पड़ता। आह! उन नारद का जिनके बारे में भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि देवर्षियों में नारद मैं हूँ, आज कितना पतन हो गया! यदि भगवान कौतुकी के साथ ही

कृपालु न होते और नारद को कुपथ्य दे देते तो फिर सारा देवर्षिपन मिट्टी में मिल जाता। कवि ने लिखा है—

कुपथ माँगि रुज व्याकुल रोगी, वैद न देहि सुनहु मुनि योगी।

बात कितनी साफ है और 'सुनहु' शब्द साफ बता रहा है कि भगवान ने नारद के ध्यान को उस ओर स्पष्टतः आकृष्ट कर दिया। 'मुनि' और 'योगी' का व्यंग इतना सूक्ष्म है कि अनुभव किया जा सकता है पर बताया नहीं जा सकता। माया का चक्र देखिए। कवि लिखता है—

माया विवश भए मुनि मूढ़ा, समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा।

आह पतन तो देखिए, 'मुनि योगी' आज 'मुनि मूढ़' बन गए!

अब क्रियात्मक प्रहसन शुरू होता है। भगवान नारद को बंदर का रूप देते हैं परन्तु कवि की कला का सूक्ष्म अंग देखिए। भगवान बंदर का रूप तो देते हैं पर नारद की ऐसी हतक नहीं कराना चाहते कि उन्हें देख कर सभी हँसे। परन्तु यदि उस रूप को कन्या के सिवा और कोई देखता ही नहीं तो मजाक का लुत्फ ही क्या होता? इसीलिये शिव जी के दो गण उस रूप को देखते हैं और नारद की व्यंगपूर्ण चुटकियाँ लेते हैं। मजाक कितना अच्छा है। नारद स्वयं समझते हैं कि मैं बड़ा सुंदर हूँ अतः फूले नहीं समाते और जितना ही वह फूलते हैं उतना ही उनकी बंदर वाली सूरत और बिगड़ती जाती है। कन्या नारद का जो रूप देखती है उसके बारे में कवि लिखता है—

मर्कट वदन भयंकर देहा।

इसीलिये स्वाभाविकतः उसे क्रोध हुआ—

देखत वदन क्रोध भा तेही।

शिव-गणों के व्यंग का लुत्फ देखिए—

नीक दीन्ह हरि सुंदरताई!

रीझहि राजकुंवरि छवि देखी, इनहिं वरहि हरि जानि विसेषी।

परन्तु इस कूट वाक्य को मुनि नहीं समझते। कारण बताते हुए कवि ने स्वयं कैसी ठीक आलोचना की है—

मुनिहिं मोह मन हाथ पराए।

क्योंकि हम पहले कुछ वैसी व्याख्या कर चुके हैं। अतः यहाँ केवल इतना संकेत रूप में कहना काफ़ी है कि ज्यों-ज्यों नारद बार बार उचकते और जगह बदल बदल कर बैठते हैं त्यों त्यों कन्या का क्रोध अधिक होता जाता है और वह उनकी ओर देखती भी नही। इतने में भगवान आकर उस कन्या को स्वयंवर में जीत लेते हैं। ये सारी घटनायें ऐसी रोचक और व्यंगपूर्ण हैं कि नाटक कला के मर्मज्ञ प्रशंसा किए बिना न रह सकेंगे। ऐसे नैराश्य के समय रहस्य को खोलते हुये शिव-गणों का यह कहना कि तनिक दर्पण में अपना मुँह तो देखिये, गज़ब ही है। नारद ने पानी में मुँह देखा और क्रोध में आपे से बाहर हो गए श्री-वास्तव जी का यह कहना है कि घमंडी चरितनायक चिड़चिड़ा होता है, अक्षरशः सत्य निकला। नारद ने पहले तो शिव-गणों को शाप दे दिया और अब देखिए कि भगवान के लिये कहते हैं।

देहौं शाप कि मरिहौं जाई. जगत मोर उपहास कराई।

कौतुकी भगवान राज-कन्या के साथ सामने आते हैं और अत्यंत मृदुस्वर में कहते हैं कि आप विकल की तरह कहाँ जा रहे हैं बस नारद के क्रोध की सीमा नहीं रहती और भगवान के प्रति ऐसे कठोर शब्द कहते हैं, जैसे कदाचित ही किसी नास्तिक ने कहे होंगे :—

पर संपदा सकहु नहिं देखी, तुम्हरे ईर्ष्या कपट विसेपी।
मथत सिंधु रुद्रहिं बौरायहु, सुरन प्रेरि विष पान करायहु।
असुर सुरा विष शंकरहिं आपुरमा मनिचारु,
स्वारथ साधक कुटिल तुम सदा कपट व्यौहारु। आदि।

अन्त में शाप तक दे डाला :—

वंचेहु मोहिं जौन धरि देहा, सोइ तनु धरहु शाप मम एहा।
कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी, करिहैं कीस सहाय तुम्हारी।
मम अपकार कीन्ह तुम भारी, नारि विरह तुम होहु दुखारी।

वाह रे कौतुकी भगवान! पूरे खिलाड़ी आप ही है। साथ के खिलाड़ी के सारे शाप भी अंगीकार कर लेते हैं। मानवी आकृति भी ग्रहण की, वानर-सेना से सहायता भी ली और सीता वियोग में विलाप भी किया! इसीलिये तो राम की प्रशंसा करते हुए भरद्वाज ने कहा था कि आप जैसा काँछते हैं वैसा ही नाचते हैं। हमारे लिये हँसी से 'निरहँस' का तमाशा सामने आ जाता है। बेचारे शिव-गणों को भी राक्षस होने का शाप मिलता है। पर जब यह सब कुछ हो चुका तो भगवान ने अपनी माया समेट ली और सारा तमाशा ग़ायब होगया। न कहीं राज कन्या है और न नगर। नारद की आँख मोह से खुली। कवि लिखता है कि:—

तब मुनि अति सभीत हरिचरना, गहे पाहि प्रणतारतहरना। आदि।

'बोल गई माई लार्ड कुकड़ूं कूँ' का सूत्र ठीक निकला, परन्तु मज़ा यह है कि हमारी सहानुभूति नारद से पूर्णतः चली नहीं गई और जीत भी बिलकुल एकाङ्गी नहीं है।

पश्चात्ताप के होते ही अहंकार मिट गया और फिर भगवान ने एक साधारण उपाय से नारद का उद्धार कर दिया। भगवान ने उपदेश किया कि:—

भजहु जाय शंकर सतनामा, होइहै हृदय तुरत विश्रामा।

उसके बाद धैर्य दिलाते हुए फिर कहते हैं:—

अब न तुमहिं माया नियराई।

इलाज कितना अच्छा और पक्का है। टैगोर जी सच कहते हैं कि भगवान कभी कभी हमें कड़े इनकार से सीख देते हैं, नहीं तो कुपथ्य पाकर हमारे नैतिक रोग बढ़ते ही जायँ।

हम प्रस्तुत प्रहसन और पश्चिमी प्रहसनों के अन्तर को पहले ही प्रगट कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप में सिर्फ़ यह कहना ज़रूरी है कि तुलसी जी के प्रहसन अत्यन्त स्वाभाविक हैं। उनका प्रहसन सम्बन्धी सिद्धान्त यह जान पड़ता है कि न कोई व्यक्ति नख-शिख पर्यन्त हास्य-चरित्र होता है और न सर्वदा रहता है। कोई भी चरित्र समय-विशेष पर अपनी किसी त्रुटि की उभार से हास्य-चरित्र बन जाता है। हास्य-कलाकार उस दोष को कुछ और उभार कर उसकी हँसी उड़ाता है जिससे हास्य-पात्र का हित और हमारा कौतुक होता है। शङ्कर जी के नाम जपने के उपदेश का आध्यात्मिक रहस्य यह है कि वह 'कामारि' हैं और काम-दोष के निवारक वही हो सकते हैं।

इस नाटक का आख़िरी पर्दा बड़ी दूर पर जा कर खुला है। सीता-हरण के बाद नारद-शाप को चरितार्थ कर, भगवान विलाप करते हुए जङ्गल में घूमते हैं। पम्पा सरोवर पर पहुँच कर जब उनका मन तनिक स्थिर होता है तो पहले देवता गण आकर उनकी स्तुति कर और उन्हें अपनी विपत्ति की याद दिला कर चले जाते हैं। नारद को अब अपने शाप देने पर दुख होता है और भगवान के साथ बड़ी ही सहानुभूति पैदा होती है। वे भगवान की लीला में मग्न हो उनका यशोगान करते वहाँ पहुँचते हैं और भगवान को प्रसन्न देखकर पूछते हैं कि हे भगवान! आख़िर आपने उस समय मुझे विवाह से क्यों वंचित रखा था? राम जी कहते हैं :—

सुनमुनि तोहि कहौं सह रोसा, भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिन्हकै रखवारी, जिमि बालकहिं राख महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई, तहँ राखै जननी अरुगाई।
प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता, प्रीति करै नहिं पाछिल बाता।
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी, बालक सुत सम दास अमानी।
जनहिँ मोर बल निज बल ताही, दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।

यह विचारि पंडित मोहि भजहीं, पायहु ज्ञान भक्ति नहिं तजहीं।

तुलसी जी की प्रहसन-कला का मुख्य सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। उनका आदर्श सिर्फ़ मखौल उड़ाना नहीं प्रत्युत हास्य-पात्र को किसी दोष से बचाना या उसका उद्धार कराना है। और फिर प्रेम ही उन्हें प्रहसन के हित प्रेरित करता है, द्वेष नहीं। भगवान राम ने किस मातृ-प्रेम के साथ अपने अनन्य भक्त नारद को बचाया यह भी साफ़ हो जाता है। 'ज्ञान' और 'भक्ति' का अन्तर इन सुन्दर शब्दों से अधिक कदाचित ही कहीं और प्रगट हुआ हो। प्रसङ्गवश एक तनिक सी बात और लिखने लायक़ है। श्री रामनरेश त्रिपाठी जी ने यह लिखा है कि प्रौढ़ होने पर पुत्र के साथ माता पहला सा प्रेम नहीं करती। यह अर्थ शब्दों के देखते तभी ठीक होता जब 'बात' की जगह 'भाँति' होता। दूसरे इस अर्थ में माता के प्रेम में कुछ दोष आ जाता है। मेरी समझ में तो सरल अर्थ यह है कि माता प्रौढ़ पुत्र से प्रीति तो करती है परन्तु पिछली सी बात नहीं करती कि उसे स्वतन्त्र काम करने से रोके, क्योंकि अब उसे प्रौढ़ पुत्र पर अधिक भरोसा हो जाता है। इस अर्थ में 'ज्ञान' और 'भक्ति' का पारस्परिक सम्बन्ध भी ठीक रहता है। कवि का आशय सदा की भाँति यह है कि ज्ञान का मार्ग कठिन है और उसमें दैवी शक्ति से उतनी सहायता नहीं मिलती जितनी भक्ति में। इसीलिए पंडित ज्ञान के अहंकार को छोड़ कर ज्ञान पाने पर भी भक्ति की ही शरण लेते हैं।

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि,
तेहि महँ अति दारुण दुखद मायारूपी नारि।

सुनु मुनि कह पुराण श्रुति संता, मोह विपिन कहुँ नारि बसन्ता।
जप तप नेम जलाशय भारी, होइ ग्रीषम सोखहि सब नारी।
काम क्रोध मद मत्सर भेका, इनहिं हर्ष प्रद वर्षा एका।
दुर्वासना कुमुद समुदाई, तिन कहँ सदा सरद सुखदाई।

धर्म सकल सरसीरुह वृन्दा, होइ हिम तिनहिं देति दुख दंदा।
पुनि ममता जवास बहुताई, पलु है नारि सिसिर रितु पाई।
पाय उलूक निकर सुखकारी, नारि निविड़ रजनी अँधियारी।
बुधिबल सील सत्य सब मीना, बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना।

अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि,
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।

मैं तुलसी जी के स्त्री संबंधी कटु वाक्यों की व्याख्या 'माधुरी' के एक लेख में कर चुका हूँ। अतः यहाँ संक्षेप में ही कुछ कहूँगा। जो लोग इन वाक्यों को स्त्री जाति के साथ अन्याय समझते हैं वे देश-काल-पात्र को भूल जाते हैं। याद रखना चाहिए कि नारद एक योगी और मुनि थे जो त्याग-मार्ग पर आरूढ़ थे। अतः भगवान राम ने उन्हें स्त्री का रूप और माया का रूप एक ही बताया। परन्तु उन्हीं राम ने विश्वहित के लिये शिव का विवाह पार्वती से रचाया। स्वयं एक नारि-व्रत रखा और यही अपने राम-राज्य का आदर्श स्थापित किया। इसी प्रसंग से थोड़ी दूर आगे चलकर बालि को डाँटते हुए राम ने कहा है—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना, नारि सिखावन करेसि न काना।

क्या यहाँ नारी उपदेशिका रूप में नहीं मानी गई? हमें तो तुलसी जी नारी के केवल उस रूप को घृणा से देखते प्रतीत होते हैं जो "गुल खिलाते" चलें और "गुलछर्रे उड़ाते" आयें। नहीं तो उन्होंने स्त्री को माता और पत्नी के रूप में सदा पूज्य ही माना है। नारद जी की दशा को इस उपदेश के सुनने पर कवि ने यों व्यक्त किया है—

सुनि रघुपति के वचन सुहाये, मुनि तन पुलक नैन भरि आये।
कहहु कौन प्रभु कै अस रीती, सेवक पै ममता अरु प्रीती।
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी, ज्ञान रंक नर मंद अभागी।

आपने देखा, इस अंतिम दृश्य में हास्य-रस शान्त-रस के ऊँची से ऊँची चोटी पर पहुँच गया। हम हास्य-रस के प्रसंग की दृष्टि से इसकी विस्तृत व्याख्या नहीं कर सके, अन्यथा इन वाक्यों में भक्ति और ज्ञान के अनेक रहस्यों का प्रगटीकरण हुआ है। हाँ, हास्य-रस के संबंध में इतना अवश्य कहेंगे कि मज़ाक़ का लुत्फ ही यह है कि हास्य-पात्र का हित हो, हमारा कौतुक हो और मज़ा तो यह है कि हास्य-पात्र हास्य कर्ता का अनुग्रहीत हो जाय। यही दशा नारद की अंतिम पदों में वर्णित है जो भगवान के कृतज्ञ होकर औरों को भी भगवद्-भजन का उपदेश करते हैं।

इस क्रियात्मक हास्य का आनन्द आप को तब मिलेगा जब आप उन साधारण हास्य-प्रसंगों पर विचार करेंगे जिनमें सालियाँ, सरहजें या भावजें अपने 'लला जी' की सोते समय सेंदूर, टिकली आदि से सजावट कर देती हैं। 'लला जी' जागते हैं, पर अपनी दशा से अनभिज्ञ। जिधर जाते हैं उधर ही क़हक़हा पड़ता है। जब किसी इशारे से समझ कर अपना मुँह शीशे में देखते हैं तो झुँझला-हट की हद नहीं रहती। नारद की गति भी कुछ वैसी ही बनी और ख़ूब बनी, कि फिर उम्र भर न भूले और माया को पास न फटकने दिया।

धनुष-यज्ञ

मुझे शुरू ही से धनुष-यज्ञ बहुत पसन्द रहा है, इसलिये न जाने फिर इस प्रसंग पर लिखने का अवसर मिले या न मिले, मैं अपने विशेष विचारों को संकेत रूप में यहाँ प्रगट कर देना चाहता हूँ और तदर्थ प्रिय पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ, क्योंकि उनमें से कुछ विचार हास्यरस के हेतु अप्रासंगिक अवश्य हैं। कविवर शेक्सपियर के "जूलियस सीज़र" नामी नाटक की उस वार्ता वाले दृश्य की बड़ी बारीक़ी की जाती है जो कैसियस आदि में 'सार्डिस' के पड़ाव पर

(Camp near Sardis) हुई है। एक आलोचक ने यहाँ तक लिखा है कि इस दृश्य की नक़ल बहुत से लेखकों ने की है परन्तु शेक्स-पियर की बराबरी का दृश्य आज तक कोई नहीं लिख सका। अँगरेज़ी साहित्य के देखते यह विचार बिलकुल ठीक है पर संसार के साहित्य मर्मज्ञों से हमारा अनुरोध है कि उस दृश्य की धनुप यज्ञ से तुलना करें और फिर देखें कि राम, लक्ष्मण और परशुराम की पारस्परिक वार्तायें साहित्यिक विचार से भी कितनी अधिक ऊँची हैं। नैतिक विचार से तो हम शेक्सपियर के दृश्य को पतन का ही दृश्य कहेंगे क्योंकि वहाँ एक बार फिर राजनीतिक मित्रता के कारण ब्रूटस जैसे आदर्शवादी का आदर्शवाद मिट्टी में मिला दिया गया, और विजय हुई अपस्वार्थी कैसियस की। तुलसी जी ने अपने दृश्य में सत्य एवं शील ही की विजय कराई है। अगर लक्ष्मण के हाथ में 'सत्य' का नश्तर है तो राम 'शील' के मरहम से काम लेते हैं और दोनों ही विजयी होते हैं। दूसरा लुत्फ़ इस दृश्य में अन्तर-नाटकीय-रचना-कला (Inter plot) का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग होना है। शुरू ही में अनेक प्रकार के द्रष्टाओं को उपस्थित किया गया है और तब मुख्य नाटकीय चरित्रों को रंगमंच पर लाया गया है। जनकपुर के द्रष्टाओं को कुशल कवि ने इस तरह रखा है कि मुख्य घटना की नवों रसों के दृष्टिकोण से आलोचना हो सके। रामागमन के समय मानो उन नवों दर्पणों पर उनका भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ता है और उन प्रतिबिम्बों का चित्रण कवि ने बड़ी ही सुन्दर भाषा में कर दिया है जो उसके इस पद से प्रगट है :—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

कवि का कमाल यह है कि परिस्थितियों के प्रत्येक गहन परिवर्तन के समय जो परिवर्तन उन विभिन्न द्रष्टाओं के भावों में होता है उसे बड़ी शीघ्रता से थोड़े शब्दों में बतलाता जाता है। विशेष विचार-णीय वे अवस्थायें हैं जो राम के धनुप-भंग के पूर्व और उसकी

यज्ञ के समय तथा परशुराम जी के आने पर और फिर परशुराम-लक्ष्मण-संवाद के समय प्रगट हुई हैं। दृश्यों का ऐसा साक्षात-कर्ता फिल्म-कला के बाहर शायद ही मिले। मैं तो यह समझता हूँ कि इतने विविध भावों को एक ही दृश्य में लाना फिल्म-कलाकार के लिये भी कठिन है। तीसरे तुल्क का अनुभव पाठकों को बहुत शीघ्र हो जायगा यदि वे इस दृश्य की तुलना वाल्मीकि जी के धनुष-यज्ञ से करेंगे जहाँ नाटकीय-कला का पता ही नहीं है। वहाँ राजे अलग-अलग दिनों पर यथा समय लाए गए हैं और अपना बल-प्रयोग कर चल दिए हैं, और परशुराम जी तो बारात के लौटते वक्त राह में मिले हैं। इसीलिये तो मैं कहा करता हूँ कि जब वाल्मीकि जी ने तुलसी रूप में अवतार लिया तो उन्होंने साहित्यिक तथा अन्य दृष्टिकोण से अपनी पुरानी रामायण में बहुधा सुधार ही किया। चौथा तुल्क साहित्य-संसार के लिये और भी अनोखा है, और वह यह कि यहाँ एक ही दृश्य में नाटकीय तथा महाकाव्य के गुणों का बड़ी सुन्दरता से सम्मिश्रण हुआ है। दृश्य आदि से अंत तक नाटकीय है परन्तु कवि ने अपनी कला से बीच-बीच में ऐसे सुन्दर संकेत किए हैं कि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पक्षों को भूला न जा सके। मसलन लक्ष्मण जी के—

सकहुँ मेरु मूलक इव तोरी

आदि वाले वाक्य, बन्दीगणों का यह सूचित करना कि यह वह "पुरारि कोदंड" है जिसे रावण और बाणासुर तक ने नहीं छुआ, कवि का स्वयं यह बताना कि—

भूप सहस दस एकहि बारा ,
लगे उठावन टरहि न टारा ।

सीता सम्बन्धी वह रूपक जिसमें उन्हें लक्ष्मी से भी बढ़कर बताया गया, और अंत में 'राम रमापति' वाली स्तुति पर पहुँचकर तो यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि परशुराम जी अपना धनुष राम

जी के हाथ में क्या दे रहे हैं, मानो भूत-युग का नेता आगामी युग के जगत्-पति को 'चार्ज' दे रहा है। नैतिक उत्थान भी बिलकुल स्पष्ट है। परशुराम के नेतृत्व में तो फिर भी पशु-बल ही प्रधान था पर रामराज्य में 'सत्य' एवं 'शील' की प्रधानता होगी जिसका विकास इसी दृश्य से शुरू हो जाता है। राम-राज्य के पताके के बारे में तुलसी जी ने लिखा है—

सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।

आज भी संसार सोचे कि पशु चिन्ह एवं अन्य चिन्हों वाली राजनीतिक ध्वाजाओं का स्थान राम-राज्य की ध्वजा से कितना नीचा है। 'सत्याग्रह' भी अभी 'सत्य शीलाग्रह' नहीं बन गया।

अब फिर आइये हास्य-रस पर। यदि नारद जी भौतिक प्रेम के उन्माद का खिलौना बन गए तो परशुराम भी क्रोध से विवश दिखाई पड़ते हैं। एक ओर तप का अहंकार है तो दूसरी ओर पाशविक बल के विजय का। यहाँ तक कि परशुराम जी श्रेणी-युद्ध के अहंकार को बड़े गौरव से यों व्यक्त करते हैं—

बाल ब्रह्मचारी अति कोही, विश्व विदित छत्री कुल द्रोही।

कवि को यहाँ इनसे भी 'कुकड़ूँ कूँ' बुलवाना है और लुत्फ़ यह कि पशु बल पर सत्य एवं शील की विजय केवल हास्य-रस के आयुधों से हो जाय और युद्ध की आवश्यकता न हो। महाकाव्य के दृष्टिकोण से तो यह काम उतना कठिन नहीं; परन्तु कवि का कमाल यह है कि नाटकीय आनन्द का ह्रास न हो। हमारा दिल अंत तक काँपता ही रहे और उसमें कभी सीता के प्रति करुणा, कभी राम-लक्ष्मण के प्रति सहानुभूति और कभी परशुराम से भय वाली भावनायें ज्वार भाटे की तरह चढ़ती उतरती रहें।

फिर जी चाहता है कि विस्तार से व्याख्या करूँ परन्तु आचार्य द्विवेदी जी की चेतावनी मजबूर करती है कि केवल संकेतों से काम लूँ। आह, भारत में अभी अपनी मातृ-भाषा का प्रेम केवल शाब्दिक ही

है। खोज पूर्ण साहित्यिक पुस्तकों के छापने से प्रकाशक बचते हैं और कहते हैं कि खरीदेगा कौन ? मासिक पत्रिकायें भी चलताऊ लेख चाहती हैं। खैर, अपना काम है लिख डालना, प्रकाशन भगवान के हाथ है।

महा काव्य के दृष्टिकोण से तो वस्तुतः यह सहल था कि राम का अवतार परशुराम से बड़ा दिखाकर उनकी विजय करा दी जाय, परन्तु इस में वह साहित्यिक आनन्द कहाँ जो तुलसी की इस कला में है कि क्रोध को इतना उभार दिया जाय कि वह अपने जोर से ही क्रोधी को बेकार करदे और दूसरे पक्ष की विजय व्यंग एवं माधुर्य के मिश्रित व्योहार से ही हो जाय। यही तो तुलसीदास जी की नाटकीय कला का कमाल है।

तुलसी जी ने इस गुत्थी के खोलने का गुर बड़ी सुन्दरता से शुरू ही में दे दिया है। जब राम और लक्ष्मण ने परशुराम को सिर नवाया, उस समय परशुराम जी के भाव क्या थे, इसका प्रकटीकरण तुलसी जी ने यों किया है—

राम लखन दसरथ को ढोटा, दीन्ह असीस देखि भल जोटा।
रामहिं चितै रहे थकि लोचन, रूप अपार मार मद मोचन।

सच है, सौन्दर्य-शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जहाँ तलवार और फरसा काम नहीं देते वहाँ सौन्दर्य अपना प्रभाव जमाता है। फिर सौन्दर्य कैसा ? ऐसे अपार रूप का जो स्वयं कामदेव के गर्व को मिटा दे। इस सौन्दर्य ने परशुराम को ऐसा वश में कर लिया कि उभय राजकुमारों के प्रति उनका क्रोध केवल बाह्य रीति पर प्रगट हुआ। आन्तरिक रीति पर तो वे उन पर मुग्ध हो ही चुके थे और प्रेम-बल पशु-बल पर विजयी हो ही चुका था। इसीलिये तो परशुराम जी तरह तरह के बहानों से क्रोध के अन्तिम प्रयोग से रुक जाते थे। कहीं जनक से यह कह कर कि इन्हें हटा

दो, कहीं राम से यह कह कर कि लक्ष्मण को रोकदो और अंत में विश्वामित्र से—

केवल कौशिक शील तुम्हारे

कहते हुए। यह मौलिक कारण परशुराम जी के 'कुकड़ूँ कूं' बोलने का कितना सुन्दर, कितना वास्तविक और कितना नाटकीय है, इसे साहित्य मर्मज्ञ स्वयं ही विचार लेंगे। हमारे घरों में इसी सिद्धान्त पर निर्भर निम्न पद को नित्य ही गाया जाता है—

'छोड़े न छूटे सिया जी को कंकन, कैसे ताड़का मारेउ'?

अधिक स्पष्टीकरण के लिये आप रोज़ की घरेलू घटनाओं पर विचार करें कि जहाँ प्रेम का सम्बन्ध अधिक होता है वहाँ बहुधा पिता, माता तथा पति अपने पुत्र और स्त्री पर क्रोध करते हुए सिर्फ़ दाँत पीस कर रह जाते हैं पर हाथ नहीं उठता-क्रोध प्रगट करने के लिये चाहे जैसे ज़ोरों में कहें कि 'पटक दूँगा', 'ज़बान खींच लूँगा' आदि। नैतिक एवं आध्यात्मिक विचार से 'सत्यम्' तथा 'सुन्दरम्' मिल कर 'भयानक सत्य' से अधिक होता है क्योंकि उसके साथ 'शिव' की शक्ति भी आप ही आप आ जाती है। अब दृश्य पर ख़ुद आइए। कवि लिखता है:—

तमकि ताकि तकि तकि धनु धरहीं, उठै न कोटि भाँति बल करहीं।

यह राजाओं का तमकना, पैतरे बदल कर अनेकानेक ओर से ताक-ताक कर धनुष को पकड़ना और तरह-तरह से ज़ोर लगाना कितनी हास्यप्रद प्रगतियाँ हैं। फ़िल्म-कलाकार भी इससे बेहतर चित्र न बना सकेंगे। फिर राजाओं की डींगों और उनके प्रत्युत्तरों की रचना भी महाकवि तुलसी ने हास्य-रस के कमाल के साथ ही की है। यदि एक ओर:—

धरि बाँधौ नृप बालक दोऊ

आदि की डींग सुनाई पड़ती है तो उसका प्रत्युत्तर भी बड़ा ही सुन्दर

नाक पिनाकहिं संग सिधाई......
सोइ वीरता कि अब कहुँ पाई

आदि मिलता है और खूब मिलता है ! सारा दृश्य वीर, शृङ्गार हास्य और करुण रसों के विशेष सम्मिश्रण से इतना सुन्दर बन गया है कि मुझे तो ऐसा दृश्य अँगरेज़ी, फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी इन चार साहित्यों में नहीं मिला। परन्तु क्योंकि हमें यहाँ केवल राम, लक्ष्मण और परशुराम की पारस्परिक वार्ताओं की विशेष व्याख्या करनी है अतः अन्य विषयों की ओर संकेत मात्र ही कर दिया गया है।

हाँ तो राजाओं की डींग आखिर यहाँ तक बढ़ी कि बिचारी राजकुमारी सीता घबरा उठी कवि ने लिखा है कि :—

कोलाहल सुनि सीय सकानी।

उधर लक्ष्मण के तेवर बदल गए :—

भूप बचन सुनि इत-उत तकहीं, लखन राम डर बोलि न सकहीं।

जनता की यह दशा है कि—

खरभर देखि विकल नर नारी, सब मिलि देहिं महीपति गारी।

तस्वीरें कैसी चलती-फिरती और जीती जागती हैं, और फिर मज़ाक़ यह कि निर्बलों का अस्त्र गाली।

कितनी सुन्दर कला है कि ठीक ऐसे खर-भर के मौक़े पर परशुराम रंगमंच पर लाए जाते हैं। वह क्रोध में हैं और कवि उनका चित्र खींचता है—

भृकुटी कुटिल नैन रिस राते, सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते।

इनके आते ही रङ्ग-मंच का 'खरभर' गायब और राजाओं की भी बोलती बन्द ! मानो चारों ओर श्रीवास्तव जी का सूत्र ही चरितार्थ होता दिखता है और राजाओं की "बोल गई माई लार्ड कुकड़ू कूं'। कवि लिखता है:—

देखत भृगुपति भेस कराला, उठे सकल भय विकल भुवाला।
पितु समेत कहि कहि निजनामा, लगे करन सब दण्ड प्रणामा।

ख़ूब! सारी तीसमार-ख़ानी परशुराम की सूरत देखते ही हवा हो गई। कवि लिखता है :—

देखि महीप सकल सकुचाने, बाज झपट जनु लवा लुकाने।

साहित्य-मर्मज्ञ अनुप्रासों का आनन्द लूटैं और नाटकीय एवं हास्य कलाओं की दाद दें।

अब श्रीवास्तव जी के सूत्र का एक उदाहरण और देखिए। और फिर लुफ्त यह है कि अब परशुराम जी से उसी तरह 'कुकड़ूँ कूँ' बुलाई जायगी, जैसे उनके आने पर राजाओं से बुलाई गई थी। क्रोध की सीमा नहीं है। परशुराम जी कहते हैं :—

.........कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा।
वेग दिखाव मूढ़ न तु आजू, उलटौं महि जहँ लगि तव राजू।

इस क्रोध भरी असभ्य भाषा से हमारी सहानुभूति तुरन्त ही जनक की ओर हो जाती है। नाटकीय-कला के मर्मज्ञ ख़ूब जानते हैं कि अति क्रोध मनुष्य को ख़ुद ही निर्बल बना देता है। यह संकेत परशुराम जी की हार के निमित्त कितना सुन्दर है। अस्तु। महाराज जनक तो भय से चुप हैं परन्तु राम जी स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि :—

नाथ शम्भु धनु भंजन हारा, होइहै कोऊ इक दास तुम्हारा।
आयसु कहिय कहा किन मोहीं.........

शील एवं असभ्यता का कितना सुन्दर संघर्ष है! अति क्रोध ने परशुराम जी को यह स्पष्ट वाक्य भी समझने न दिया। उनका क्रोध और बढ़ गया। वे कहते हैं—

सेवक सो जो करइ सेवकाई, अरि करनी करि करिय लड़ाई।
सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा, सहसबाहु सम सो रिपु मोरा।

हास्य-रस कितना सूक्ष्म है कि राम की साफ़ बात भी हज़रत की समझ में न आई। नाटकीय विरोधा-भास का आनन्द यह, कि यह वाक्य खुद उससे कहे जा रहे हैं जिसने धनुष तोड़ा है। आगे परशुराम जी यहाँ तक कह देते हैं कि :—

सो बिलगाइ बिहाइ समाजा, नतु मारे जैहैं सब राजा।

अब भला लक्ष्मण जी से कैसे रहा जाता? उनकी चुटकी देखिए। कहते हैं कि :—

बहु धनुहीं तोरेउँ लड़काईं, कबहुँ न असि रिस कीन्हि गुसाईं।
यहि धनु पर ममता केहि हेतू?........

परशुराम का क्रोध और तेज हो जाता है। वह कहते हैं :—

रे नृप-बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार,
धनुहीं सम त्रिपुरारि धनु विदित सकल संसार।

'रे' और 'तोहि' वाले शब्द बता रहे हैं कि परशुराम के क्रोध ने उनकी सभ्यता पर विजय पाली है। उधर लक्ष्मण जी की सभ्य चुटकियाँ उसे और भी उभार रही हैं। क्रोध ने बुद्धि को शिथिल कर दिया है कि स्वयं अपने मुख से कहते जाते हैं कि त्रिपुरारि-धनुष है, धनुहीं नहीं, फिर भी यह नहीं सोचते कि इसका तोड़ने वाला भी साधारण मनुष्य नहीं हो सकता इसी लिये तो आगे चल कर विश्वामित्र ने भी कहा है कि यद्यपि राम ने त्रिपुरारि-धनुष (अजगौ) को ऊख सा तोड़ डाला फिर भी परशुराम को हरियाली ही सूझ रही है और ठीक परख नहीं कर सकते। अस्तु। लक्ष्मण के मज़ाक का छींटा फिर देखिए :—

लखन कहा हँसि हमरे जाना, सुनहु देव सब धनुष समाना।

यह हँसी प्रगट कर रही है कि अब लक्ष्मण जी 'देव'-शब्द जान बूझ कर 'रे' आदि के विरोध में मज़ाक को उभारने के लिये प्रयुक्त कर रहे हैं। वह कहते हैं :—

छुवत टूट रघुपतिहि न दोषू, मुनि बिनु काज करिय कत रोषू।

'देव' तथा 'मुनि' शब्दों ने ग़ज़ब कर दिया। क्रोध तो उभर ही आया था। अब अहंकार का उभार भी होगया। परशुराम जी समझ गए कि यह लड़का हमें कोरा फ़क़ीर समझ रहा है। इसलिये फरसे की तरफ़ देख कर कहते हैं—

बोले चितै परसु की ओरा, रे शठ सुनेसि सुभाव न मोरा।
बालक जानि बधौं नहिं तोहीं, केवल मुनि कर जानेसि मोहीं।
बाल ब्रह्मचारी अति कोही, विश्व विदित क्षत्री कुल द्रोही।
भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्हीं, विपुल बार महि देवन दीन्हीं।
सहस बाहु भुज छेदन हारा, परशु विलोक महीप कुमारा।

तस्वीर बड़ी फुर्तीली पर गुस्से से भरी है। अहंक़ार देखिए कि 'अति कोही' 'छत्री कुल द्रोही' आदि, अवगुणों को स्वयं विदित कर रहे हैं। क्या यह हँसी की बात नहीं कि आज एक मुनि 'मुनि' कहने से चिढ़े? फिर फरसे का बार-बार दिखलाना भी मुस्कान पैदा किए बिना नहीं रह सका, क्योंकि क्रोध आवश्यकता से अधिक और अशक्त है। 'बालक जानि' वाला बहाना उन्हीं बहानों में से है जिनकी व्याख्या पहले हो चुकी है। लक्ष्मण का जवाब तो मज़ाक से कूट कूट कर भरा है। कहते हैं :—

बिहँसि लछन बोले मृदु बानी, अहो मुनीशमहा भटमानी।

यह नरमी परशुराम के क्रोध का क्रियात्मक मख़ौल है अतः उनकी चिड़चिड़ाहट को और उभार देती है। 'अहो'—शब्द आश्चर्य एवं हास्य से भरा हुआ है। महाभट और मानी होने का इक़रार व्यंगपूर्ण ही है। लक्ष्मण कहते हैं :—

पुनि पुनि मोहिं दिखाव कुठारा, चहत उड़ावन फूँकि पहारा।

पहले चरण में 'कुठार' शब्द में फरसे का मखौल विचारणीय है और दूसरा चरण तो हास्य-रस से इतना परिपूर्ण है कि उसकी व्याख्या करना कठिन परन्तु उसका अनुभव होना सहल है।

यहाँ कुम्हड़ बतिया कोऊ नाहीं, जे तर्जनि देखत मर जाहीं।

हास्य-रस के साहित्य में इस पाये का पद मिलना कठिन है। फरसा दिखाने की उपमा तर्जनि दिखाने से देना हास्य-रस की पराकाष्ठा है और फिर कुम्हड़-बतिया की उपमा तो ग़ज़ब की है—कितनी साधारण पर कितनी प्रबल !

देखि कुठार शरासन बाना, मैं कछु कहा सहित अभिमाना।
भृगु कुल समुझि जनेउ बिलोकी, जो कछु कहौ सहौं रिस रोकी।
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई, हमरे कुल इन पर न सुराई।

'छत्री कुल द्रोही' के श्रेणी युद्ध वाले शब्दों का कितनी खिल्ली उड़ाने वाला उत्तर है, परन्तु कितना सच्चा ! द्रोह का उत्तर द्रोह नहीं अपितु शील ही है। अंतिम पद की व्याख्या लक्ष्मण ने स्वयं यों की है और बताया है कि वह ब्राह्मण आदि से क्यों नहीं लड़ते :—

बधे पाप अनकीरति हारे, मारत हू पाँ परिय तुम्हारे।

पहले चरण का व्यंग कितना सुन्दर है और दूसरे चरण की नम्रता उसे और उभार देती है।

कोटि कुलिश सम बचन तुम्हारा, व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा।

माधुर्य का यह व्यंगपूर्ण वार गजब का है। लक्ष्मण कहते हैं कि महाराज आपके शब्द-बाण ही क्या कम हैं जो इतने हथियार लेकर चलते हैं। उन्हीं हथियारों की ओर संकेत कर लक्ष्मण फिर कहते हैं —

जो बिलोकि अनुचित कह्यों छमौ महा मुनि धीर।

यह क्षमा माँगना भी ग़ज़ब का है, क्योंकि साथ ही 'महामुनि धीर' वाली चुटकी लगी हुई है। व्यंगों का आख़िर कुछ असर हुआ। कवि लिखता है :—

सुनि सरोष भृगुवंश मुनि बोले गिरा गँभीर।

शब्दों में गंभीरता आ गई। परशुराम जी कहते हैं :—

कौशिक सुनहु मंद यह बालक, कुटिल काल वश निज कुल घालक।
भानु वंश राकेश कलंकू, निपट निरंकुश अबुध अशंकू।
कालकवल होइहै छण माहीं, कहौं पुकारि खोरि मोहिं नाहीं।
तुम हटकहु जो चहहु उबारा, कहि प्रताप बल रोष हमारा।

शाब्दिक गंभीरता केवल बाह्य है। इन वाक्यों में अपशब्दों की कमी नहीं। तीसरे पद की डींग भी विचारणीय है पर साथ ही साथ क्रोध की विवशता भी प्रगट है और अब विश्वामित्र का निहोरा ढूँढ़ा जाता है। अंतिम चरण का अहंकार भला लक्ष्मण कैसे सह सकते थे? वह बोल उठे—

लछन कहेउ मुनि सुयश तुम्हारा, तुमहिं अछत को बरनहि पारा।
अपने मुख तुम आपन करनी, बार अनेक भाँति बहु बरनी।
नहिं सन्तोष तो पुनि कछु कहहू, नहिं रिस रोक दुसह दुख सहहू।

परशुराम जी की अपनी तारीफ़ वाले दोष की कैसी अच्छी चुटकियाँ हैं। अब अपशब्द सम्बन्धी चुटकियाँ देखिए। लक्ष्मण कहते हैं :—

वीरव्रती तुम धीर अछोभा, गारी देत न पावहु सोभा।

अब दोनों अवगुणों की एक साथ टीप की चुटकी देखिए :—

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप,
विद्यमान रन पाइ रिपु कायर करहिं प्रलाप।

तुम तो काल हाँकि जनु लावा, बार बार मोहिं लागि बुलावा।

अब तो लक्ष्मण के शब्दों में भी कुछ सख़्ती आ गई जैसा कि 'कायर' और 'तुम' शब्दों से प्रगट है। परशुराम के बार-बार फरसा दिखाने और मारने की धमकी देने का मख़ौल अन्तिम पद में किस प्रकार दिखाया गया है। इन शब्दों का जो प्रभाव परशुराम पर पड़ा उसे कवि ने यों व्यक्त किया है :—

सुनत लषन के बचन कठोरा, परसु सुधारि धरेउ कर घोरा।

इस फरसे के फिर सुधारने में अति क्रोध की वही लाचारी है जिस पर हँसी आए बिना नहीं रहती। चित्र में कितनी फ़िल्म-कला है, यह भी दर्शनीय है। जब कौशिक जी भी बीच में न पड़े तो परशुराम जी न मारने का और बहाना खोजते हुए जनता को संबोधित करते हैं :—

अब मोहिं दोष देहुँ जन लोगू, कटुवादी बालक बध योगू।
बाल विलोकि बहुत मैं बाँचा, अब यह मरनहार भा साँचा।

परशुराम की प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए कौशिक जी अब बोल उठे :—

कौशिक कहा छमिय अपराधू, बाल दोष गुन गनहिं न साधू।

परशुराम को तनिक सहारा मिला और निर्बलता ने विश्वामित्र जी का निहोरा रूपी बहाना ढूँढ लिया :—

कर कुठार मैं अकरुण कोही, आगे अपराधी गुरु द्रोही।
उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे, केवल कौशिक शील तुम्हारे।
नतु यहि काटि कुठार कठोरे, गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे।

आह, परशुराम की कटुवादिता, अहंकार और क्रोध अब भी न गए। 'अकरन कोही' साफ़ बता रहा है कि अब भी दोष, गुण रूप में दिख रहा है। नहीं कौन ऐसा है जो अपने अकारण-क्रोध की प्रशंसा करे ? अब तो कौशिक भी हँसी को न रोक सके, पर शील और सभ्यतावश उस हँसी को हृदय में ही रखा। कवि लिखता है। कि :—

गाधिसुवन कह हृदय हँसि मुनिहिं हरिअरै सूझ,
अजगव खंडेउ ऊख जिमि अजहुँ न बूझ अबूझ।

इस दोहे में पृथक् संकेत (aside) और स्वगत वार्ता (Soliloquy) दोनों का आनन्द है। लक्ष्मण जी नोक-झोंक की एक बात फिर कह देते हैं :—

कहेउ लषन मुनि शील तुम्हारा, को नहिं जानि विदित संसारा।
मातहिं पितहिं उरिन भए नीके, गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के।
सो जनु हमरे माथे काढ़ा, दिन चलि गयेउ ब्याज बहु बाढ़ा।
अब आनहु व्यवहरिया बोली, तुरत देउँ मैं थैली खोली।

परशुराम जी ने विश्वामित्र के प्रति शील और गुरु-ऋण का जिक्र किया और लक्ष्मण को विनोद का मौक़ा मिल गया। 'शील' को व्यंग में परिणत करके और ऋण पर एक शाब्दिक-व्यङ्ग की आयोजना करके मजाक़ को बड़ी ख़ूबी के साथ आगे बढ़ा दिया। हम इसकी व्याख्या पहले कर चुके हैं अतः यहाँ इतना ही संकेत अलम् है।

सुनि कटु वचन कुठार सुधारा, हा हा करि सब लोग पुकारा।

अब की परशुराम ने बिलकुल मारने पर तैयार हो कर फरसे को साध लिया और वार करने पर इतना उद्यत जान पड़े कि सब लोग भय से 'हा-हा' पुकार उठे। हास्य हवा हो गया और रौद्र-रस आ गया। लक्ष्मण कहते हैं :—

भृगुवर परशु दिखावहु मोही, विप्र विचारि बचहु नृप द्रोही।
मिले न कबहुँ सुभट रण गाढ़े, द्विज देवता घरहि के बाढ़े।

शब्दों में कितनी कटुता है, पर चूँकि गीता वर्णित विभागानुसार दोनों महापुरुष दैवी-सम्पत्ति वाले थे अतः एक ओर अलौकिक सौंदर्य का अनुभव क्रोध को रोके हुए है और दूसरी ओर विप्रवृन्द का आदर लक्ष्मण को परशुराम जैसे नृप द्रोही पर वार करने से बचाये हुए है। पाठकों को यह विषय नितान्त स्पष्ट हो जायगा, यदि वे इस बात पर विचार करेंगे कि खर और दूषण पर भी इन दोनों राजकुमारों की सुन्दरता का प्रभाव पड़ा था। पर वहाँ आसुरी-सम्पत्ति होने के कारण युद्ध रुक न सका और खर-दूषण ने ख़ूब वार किए। दुर्गासप्तशती के लेखक ने भी एक जगह लिखा है कि

आश्चर्य यह है कि देवी की सुन्दरता से भी राक्षस प्रभावित न हुआ और उसका हाथ उठ गया। अस्तु। हम उपर्युक्त पदों की हास्य सम्बन्धी व्याख्या पहले कर चुके हैं, इसलिये यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ लक्ष्मण के शब्द रौद्र-रस में परिणत हुए और विप्र सम्बन्धी अपमानयुक्त शब्द उनके मुख से निकले कि :—

अनुचित कहि सब लोग पुकारा, रघुपति सैनहिं लषन निवारा।

ख़ूब! लोगों की 'अनुचित' वाली पुकार को सुन राम ने लक्ष्मण को इशारे से रोक दिया, मानो कटाक्ष का नश्तर अपना काम कर चुका और अब माधुर्य के मरहम-पट्टी का समय आया। दूसरे चरण में लक्ष्मण जी का कितना संयमशील होना दिखता है। एक इशारे से उबलता हुआ रोष दब जाता है। आज हमारे नवयुवक क्रोध और कटाक्ष में लक्ष्मण से भले ही बढ़ जायँ पर इस संयम का पता नहीं। अस्तु अब भगवान राम के माधुर्य का आनन्द उठाइए। कवि लिखता है :—

लषण उतर आहुति सरिस भृगुवर रोष कृशानु,
बढ़त देखि जल सम वचन बोले रघुकुल भानु।

इस दोहे से स्पष्ट है कि कैसे ठीक नाटकीय अवसर पर राम की बात शुरू हुई है। वह कहते हैं :—

नाथ करिय बालक पर छोहू, सूध दूध मुख करिय न कोहू।
जो पै प्रभु प्रभाव कछु जाना, तौकि बराबर करत अयाना।

शब्दों में कितना आदर है और लक्ष्मण के प्रति-क्रोध को किस तरह धीमा करने की कोशिश की गई है जो सराहनीय है।

जो लरिका कछु अनुचित करहीं, गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं।
करिय कृपा शिशु सेवक जानी, तुम सम शील धीर मुनि ज्ञानी।

यह 'अनुचित' उन्हीं कामों के लिये प्रयुक्त हुआ है जिन्हें हम बाल्य-चंचलता से सम्बद्ध कर सकें। हमारे प्रान्तीय शिक्षा-विभाग

के एक अँगरेज़ डाइरेक्टर ने कहा था कि मुझे तो निर्जीवता के सन्नाटे से बालकीय चहल-पहल की सजीवता अच्छी लगती है—भले ही वह नैतिक परिधि के कुछ बाहर भी निकली हुई हो। ऐस्कुइथ (Asquith) महोदय ने भी इङ्गलैण्ड के एक विश्व-विद्यालय के विद्यार्थियों के गड़-बड़ मचाने को बाल्य-चंचलता ही (hilarity) कहा था। अस्तु। राम की कोमल वाणी से परशुराम का क्रोध कुछ शान्त हुआ, पर लक्ष्मण फिर मुस्करा दिये जिसने ग़ज़ब कर दिया। कवि लिखता है :—

राम वचन सुनि कछुक जुड़ाने, कहि कछु लषन बहुरि मुस्काने।

अब परशुराम के क्रोध का उभार फिर देखिए :—

हँसत देखि नख-शिख रिस व्यापी, राम तोर भ्राता बड़ पापी।

गर्वीले नायक का चिड़चिड़ापन साफ़ ज़ाहिर है। परशुराम कहते हैं :—

गौर शरीर श्याम मन माहीं, कालकूट मुख पय मुख नाहीं।

लक्ष्मण का मुँह दूध-शुद्ध बालक का मुँह नहीं, बल्कि विष उगलने वाला कालकूट मुख है।

सहज टेढ़ अनुहरै न तोहीं, नीच मीचु सम लखै न मोहीं।

माधुर्य का कम से कम इतना असर बाक़ी है कि राम के साथ सहानुभूति है। दोष लक्ष्मण ही का बताया जाता है, बल्कि यह कहा जाता है कि लक्ष्मण हमें और तुम्हें बराबर ही समझते हैं। लक्ष्मण जी बोल उठे :—

लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल,
जेहि वश जन अनुचित करहिं चरहिं विश्व प्रतिकूल।

हँस कर यह उपदेश देना परशुराम जी पर ग़ज़ब का वार है!

मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया, परिहरि कोप करिय अब दाया।

टूट चाप नहिं जुरै रिसाने, बैठिय होइहैं पाँय पिराने।
जो अति प्रिय तौ करिय उपाई, जोरिय कोउ बड़ गुनी बुलाई।

शब्द कितने मधुर परन्तु हास्य-रस से कितने कूटकूट कर भरे हुए हैं। साहित्य-मर्मज्ञ इस हास्य-रस के माधुर्य और भगवान राम के शान्त-रस वाले माधुर्य की पारस्परिक तुलना करेंगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आएगा। कवि आगे किस सुन्दरता से इस पारस्परिक संवाद का वह प्रभाव दिखाता है जो औरों पर पड़ा था :—

बोलत लषनहिं जनक डराहीं, मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।
थर थर काँपहिं पुर नर नारी, छोट कुमार खोट बड़ भारी।

महाराज जनक डर के मारे लक्ष्मण जी से कहने लगे कि भई, चुप हो जाव, बहुत अनुचित कहना ठीक नहीं। जनकपुर के नर-नारियों की यह दशा थी कि सब खौफ से थर-थर काँप रहे थे, क्योंकि वे समझते थे कि परशुराम जैसे क्रोधी अब अधिक कटाक्षों को सह न सकेंगे। उन्होंने ठीक ही कहा कि लक्ष्मण जी जितने छोटे हैं उतने ही खोटे। स्वयं परशुराम की क्या दशा थी। उसका वर्णन यों है :—

भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी, रिसु तन जरै होइ बल हानी।

परम्परागत मुनि-स्वभाव ने अलौकिक सुन्दरता को पहले ही देख लिया है और गुप्त रूप से मानो राम और लक्ष्मण को अपना इष्ट मान लिया है अतः लक्ष्मण की निर्भय वाणी को सुन कर शरीर तो क्रोध से जल रहा है पर बल की हानि होती जाती है। अंशतः यह दशा अति-क्रोध के कारण भी है। अब परशुराम जी राम का निहोरा देकर यों कहते हैं :—

बोले रामहिं देइ निहोरा, बचौं बिचारि बंधु लघु तोरा।
मन मलीन तनु सुन्दर कैसे, बिष रस भरा कनक घट जैसे।

यह सिर्फ एक नया बहाना है, पर असल में :—

जादू वह जो सर प चढ़ के बोले।

लक्ष्मण के सौन्दर्य की प्रशंसा आखिर मुँह से निकल ही पड़ी। हाँ अभी व्यंग एवं कटाक्ष की कड़ुई दवा को विष-रस समझ रहे हैं। कवि लिखता है :—

सुनि लक्ष्मण बिहँसे बहुरि नैन तरेरे राम,
गुरु समीप गवने बहुरि परिहरि बानी बाम।

लक्ष्मण हँसे बिना न रह सके अतः राम को तनिक टेढ़ी आँखें करके मना करना पड़ा। संयमी लक्ष्मण बड़े भाई का आशय तुरन्त ताड़ गए और सिर नवा गुरु के पास चल दिये। अब फिर भगवान राम के शील वाले मरहम का प्रयोग देखिए :—

अति विनीत मृदु शीतल बानी, बोले राम जोरि युग पानी।

यह है शील की महानता ! (सत्याग्रही साहेबान जरा इस पर गौर करने की कृपा करें)।

सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना, बालक बचन करिय नहिं काना।
बररै बालक एक सुभाऊ, इनहि न संत बिदूषहिं काऊ।
त्यहि नाहि न कछु काज बिगारा, अपराधी मैं नाथ तुम्हारा।
कृपा कोप बध बंध गुसाईं, मोपर करिय दास की नाईं।
कहिय बेगि जेहि विधि रिस जाई, मुनि नायक सोई करिय उपाई।

अपने दोष की स्वीकृत कितनी साफ़ है और शब्द कितने कोमल हैं।

परशुराम जी बोले—

कह मुनि राम जाय रिस कैसे, अजहुँ अनुज तव चितै अनैसे।
यहि कै कंठ कुठार न दीन्हा, तौ मैं कहा कोह करि कीन्हा।

गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि सुनि कुठार गति घोर,
परशु अछत देखौं जियत बैरी भूप किशोर।

फ़िल्म-कला की बात तो कहाँ तक दुहराई जाय, इस दृश्य
जगह मौजूद है। यदि लक्ष्मण ने हँसना बन्द किया तो नेत्रों
चितवन कहाँ जाय ? वह तो परशुराम के लिये अब भी गज़ब
रही है। वह मानो नश्तर देने के बाद भी दबा-दबा कर अहंका
रहा-सहा मवाद निकाल देना चाहती है। परशुराम स्वयं
निर्बलता के कारण समझ नहीं रहे और इसीलिये उन्हें आश्चर
भावों का यह सूक्ष्म प्रदर्शन महाकवि तुलसी की ही विशेषता
अब परशुराम का आश्चर्य दुःख में बदलता जाता है जो एक
निर्बलता का और भी कारण बनेगा पर दूसरी ओर उनके वि
को ऐसी धारा में डाल देगा कि अन्त में आँखें खुल
और उनकी असफलता ही उनके उद्धार का कारण ब
कहते हैं—

बहै न हाथ दहै रिस छाती, भा कुठार कुण्ठित नृप घा
भयो वाम विधि फिरेउ सुभाऊ, मोरे हृदय कृपा कसि का

कुठार के कुण्ठित होने में महाकाव्य सम्बन्धी संकेत
सुन्दर है, मानो भगवान की गुप्त करामात से कुठार कुण्ठित है
लिये तो मैं संकेत-कला में तुलसीदास का सिक्का मानता हूँ। दे
यहाँ का संकेत भी इतना सूक्ष्म है कि नाटक-कला में विघ्न
पड़ता—बहुधा तो हमारा ध्यान ही उधर नहीं जाता। ठ
अलौकिक सौन्दर्य ने परशुराम में दया-भाव उत्पन्न कर दिया
अभी पतन इतना है कि उन्हें उसी दया पर दुःख है। लक्ष्म
चुटकी का मौक़ा मिला। कहा :—

बाउ कृपा मूरति अनुकूला, बोलत वचन झरत जनु फू
जो पै कृपा जरै मुनि गाता, क्रोध भये तनु राखु विधा

व्यंग रूपी कटाक्ष का इससे सुन्दर उदाहरण मिलना कठि
क्योंकि विरोध बड़ी हास्यप्रद भाषा में प्रगट हुआ है।

अब परशुराम जी सब निहोरों के बाद एक बार फिर जनक जी के निहोरे से बोले—

देखु जनक हठि बालक एहू, कीन चहत जड़ यमपुर गेहू।
वेगि करहु किन आँखिन ओटा, देखत छोट खोट नृप ढोटा।

बस, लक्ष्मण को फिर चुटकी लेने का मौक़ा मिल गया। अब की इतनी गहरी चुटकी ली कि परशुराम तिलमिला उठे। कवि लिखता है कि—

विहँसे लषन कहा मुनि पाहीं, मूँदिये नैन कतहुँ कोउ नाहीं।

कितने ग़ज़ब की ढिठाई है। इसके बजाय कि लक्ष्मण परशुराम की आँखों के सामने से हट जायँ, वह वहीं खड़े हँसते हैं और परशुराम से ही आँख बन्द कर लेने को कहते हैं। परशुराम का क्रोध अब और बढ़ जाता है जिससे राम भी नहीं बचते—

परशुराम तब राम प्रति बोले उर अति क्रोध,
शंभु-शरासन तोरि शठ करसि हमार प्रबोध।

क्रोध ने राम के माधुर्य को केवल चाटुकारी समझा अतः अब राम के प्रति भी 'शठ'—शब्द प्रयुक्त हुआ। देखिए, परशुराम जी साफ़ कहते हैं—

बन्धु कहै कटुसम्मत तोरे, तू छल विनय करसि कर जोरे।
करु परितोष मोर संग्रामा, नाहिंत छाड़ कहाउब रामा।
छल तजि करहि समर शिव द्रोही, बन्धु सहित नतु मारौं तोही।

अब तो राम को साफ़ चुनौती दे दी गई और उन्हें छली कहा गया, परन्तु दोनों का चित्र खींचते हुये कवि लिखता है—

भृगुपति कहहिं कुठार उठाये, मन मुसकाहिं राम सिर नाये।

यह अलौकिक शान्ति और परिस्थिति पर मुस्कराना मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सिवा और किस में हो सकता है ? एक ओर

रौद्र रस में ओत प्रोत वाक्य और हाथ में रुधा हुआ कुठार है परन्तु उसके मुकाविले के लिये शान्त एवं हास्य मिश्रित नम्रता से झुका हुआ सिर ! अस्तु । राम जी यों बोल उठे—

गुनहु लपन कर हम पर रोपू, कवहुँ सुधाइउ ते वड़ दोपू ।
टेढ़ जानि शंका सव काहू, वक्र चंद्रमहिं ग्रसहि न राहू ।

ठीक है, भगवान राम के शील में कायरता का स्थान नहीं । वे स्वाभिमान नहीं छोड़ते । उनका शील वह शील नहीं है कि एक गाल पर थप्पड़ लगाया जाय तो दूसरा सामने कर दें । उनका आदर्श है एक सच्चे क्षत्री का आदर्श, जिसे उन्होंने स्वयं विभीपण से यों वताया है—

सौरज धीर जाहि रथ चाका, सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ।

देखिए, एक गाल पर चपत पड़ने पर दूसरा गाल सामने करने का कैसा वीरत्वपूर्ण दृश्य सामने आता है । ब्रह्म कुल की महिमा स्थापित करते हुए एक क्षत्री किस तरह अपना सिर सामने पेश करता है—

राम कहा रिस तजहु मुनीशा, कर कुठार आगे यह शीशा ।
जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी, मोहि जानि आपन अनुगामी ।

प्रभुहि सेवकहि समर कस तजहु विप्रवर रोप,
वेष विलोकि कहेसि कछु वालकहू नहिं दोप ।

स्वाभिमान की कैसी सुन्दर मर्यादा है और लक्ष्मण की कैसी अच्छी सफ़ाई ।

नाम जान पै तुमहिं न चीन्हा, वंश सुभाव उतर तेहिं दीन्हा ।
जो तुम अवतेहु मुनि की नाईं, पद रज शिर शिशु धरत गुसाईं ।

क्षत्री-कुल की मर्यादा रखते हुए आपका क्षत्री-वेप देखकर ही लड़के ने गुस्ताख़ी की । यदि आप मुनि-वेप में होते तो वह आप के

पैर की धूल शिर पर रखता। उसने आपका नाम तो सुना पर असल में आप से वाकिफ़ नहीं।

छमहु चूक अन जानत फेरी, चहिय विप्र उर कृपा घनेरी।

दूसरे चरण की अज्ञात चुटकी बड़े मजे की है पर राम के ध्यान में भी न था कि इस माधुर्य का भी उलटा असर होगा। इसी को हास्य में कहते हैं कि 'काना हो सो कोंच जाय' चाहे कहने वाले का आशय कुछ और ही हो।

हमहिं तुमहिं सरवरि कस नाथा, कहहु तो कहाँ चरण कहँ माथा।
राम मात्र लघु नाम हमारा, परशु सहित वड़ नाम तुम्हारा।
देव एक गुण धनुष हमारे, नवं गुण परम पुनीत तुम्हारे।

एक ओर श्रेणी-युद्ध का अहंकार और दूसरी ओर उसके मुक़ाबिले में यह वास्तविक नम्रता, 'सत्यशीलाग्रह' का कितना सुन्दर आदर्श है! अन्त में राम जी कहते हैं—

सब प्रकार हम तुम सन हारे, छमहु विप्र अपराध हमारे।

देव, विप्र, मुनि आदि शब्दों का अज्ञात हास्य परशुराम के अहंकार के उभारने का प्रयत्न बन जाता है। उन्हें प्रशंसा के शब्द अपमान सूचक दिखते हैं। कवि लिखता है—

वार वार मुनि विप्रवर कहा राम सन राम,
बोले भृगुपति सरुप अति तुहूँ बन्धु सम बाम।

इसी को कहते हैं 'धोबी से न जीतना और गधे के कान उमेठना'! लक्ष्मण से कुछ चली नहीं, राम का नम्र-स्वभाव देखा तो और ऐंठ गए।

कहते हैं—

निपटहि द्विज करि जानेसि मोहीं, मैं जस विप्र सुनावहुँ तोहीं।
चाप स्रुवा शर आहुति जानू, कोप मोर अति घोर कृशानू।

समिधि सैन चतुरंग सुहाई, महा महीप भए पशु आई।
मैं यहि परशु काटि वलि दीन्हे, समर यज्ञ जग कोटिन कीन्हे।
मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे, वोलसि निदरि विप्र के भोरे।
भंजेहु चाप दाप अति वाढ़ा, अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा।

यज्ञ का यह वीर रस रूपी रूपक साहित्य में एक अनोखी मिसाल है। हास्य-रस में इसका मजा यह है कि आज एक विप्र स्वयं अपने मुँह से कह रहा है कि 'वोलसि निदरि विप्र के भोरे।' मानो विप्र होना वह ऐब समझता है। माधुर्य और नम्रता से भरे राम-वाक्यों को 'दाप' से सम्बन्ध करना इसी उलटी दृष्टि का परिणाम है। भगवान राम अब स्वाभिमानपूर्ण परन्तु विनम्र वाक्य यों वोलते हैं—

राम कहा मुनि कहहु विचारी, रिस अति वड़ि लघु चूक हमारी।
छुवतहि टूट पिनाक पुराना, मैं केहि हेतु करहुँ अभिमाना।

जो हम निदरहिं विप्रवर सत्य सुनहु भृगुनाथ,
तो अस को जग सुभट जेहिं भय वश नावहि माथ।

देव दनुज भूपति भट नाना, सम वल अधिक होइ वलवाना।
जो रण हमहिं प्रचारहि कोऊ, लरहिं सुखेन काल किन होऊ।
क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना, कुल कलंक तेहिं पामर जाना।
कहहुँ सुभाव न कुलहिं प्रशंसी, कालहु डरहि न रण रघुवंशी।

तुलसीदास ने स्वयं इस वक्तृता की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह अत्यन्त मृदु पर अत्यन्त गूढ़ है। राम ने साफ़ वता दिया कि हम भय से सिर नहीं झुका रहे वल्कि विप्रों की मर्यादा स्थापित करने के लिये आप से ऐसा व्यवहार करते हैं। वक्तृता में स्वाभिमान है परन्तु अहंकार नहीं, क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी के अपने से अधिक वल-वान होने की सम्भावना स्वीकृत की गई है परन्तु यह साफ़ वता दिया गया है कि क्षत्री होने के कारण हम युद्ध में काल की सम्भावना

से भी नहीं डरते। किस सुन्दरता से यह भी संकेत कर दिया है कि यदि आप विप्र न होते तो हम आपके रण-प्रचार को मान लेते और चाहे मर भी जाते पर मैदान से न हटते। अब परशुराम को ज्ञान हो गया कि राम की नम्रता का कारण कायरता नहीं बल्कि वीरता है। राम के सत्य-शीलाग्रह ने परशुराम के अहंकार एवं क्रोध पर विजय पाई। कवि लिखता है—

सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपति के, उघरे पटल परशुधर मति के।
राम रमापति कर धनु लेहू, खेंचहु चाप मिटै संदेहू।
देत चाप आपहि चढ़ि गयऊ, परशुराम मन विस्मय भयऊ।

जाना राम प्रताप तब पुलक प्रफुल्लित गात,
जोरि पानि बोले वचन प्रेम न हृदय समात।

राम को 'रमापति' कह कर संबोधित करना साफ़ बता रहा है कि अब वह उन्हें पहिचान गए हैं। परन्तु संदेह रजो गुण का एक लक्षण है जो अब भी बाक़ी है और जिसके मिटाने को परशुराम ने अपना धनुष राम के हाथ में दिया। राम के धनुष लेते ही वह अपने-आप चढ़ गया और वह शंका भी जाती रही। परशुराम का उद्धार हो गया और क्रोध, अहंकार तथा संदेह, तीनों दोष मिट गए। नैतिक चिकित्सा में लक्ष्मण का नश्तर और राम का मरहम, सफल हो गये। परशुराम का हृदय अब भक्ति एवं प्रेम से प्रफुल्लित है और इसीलिये एक बड़ी सुन्दर स्तुति उनकी जिह्वा पर है :—

जै रघुवंश वनज वन भानू, गहन दनुज कुल दहन कृशानू।
जै सुर धेनु विप्र हितकारी, जय मद मोह कोह भ्रम हारी।

सच है, इस समय परशुराम जी अपने अनुभव से यह कह रहे हैं कि आप मोह, मद, क्रोध, भ्रम के हरने वाले हैं, और दोषों की व्याख्या तो ऊपर हो ही चुकी और मोह भी स्पष्टतः शिव-धनुष के साथ था।

विनय शील करुणा गुण सागर, जयति वचन रचना अति नागर।

कितनी सुंदरता से राम के शील-विनय आदि की प्रशंसा की गई है और उनके वाक्यों को वचन-रचना की 'नागरिता' बताया गया है।

सेवक सुखद सुभग सब अंगा, जै शरीर छवि कोटि अनंगा।

कितने साफ़ शब्दों में उनकी सुंदरता की प्रशंसा है जिसने परशु-राम पर एक अज्ञात प्रभाव पहले ही से डाल दिया था।

करौं कहा मुख एक प्रशंसा, जै महेश मन मानस हंसा।

जिन शिव-धनुष के मोह वश मैंने क्रोध किया था आप उन्हीं के मनरूपी मानसरोवर में हंसवत् रहते हैं। मैं एक मुँह से आपकी प्रशंसा क्या करूँ?

अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता, छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता।

कितने साफ़ शब्दों में, स्तुति में लक्ष्मण को भी शामिल किया गया है। अब जाकर परशुराम जी समझे कि लक्ष्मण के व्यंग और कटाक्ष भी कटु औषधि रूप थे और उनका प्रयोग भी दया-भाव से ही हुआ था। स्तुति क्या है, सारे धनुष-यज्ञ की नैतिक व्याख्या है और राम-लक्ष्मण की नैतिक चिकित्सा का सार्टिफ़िकेट। इसीलिये मैं कहा करता हूँ कि तुलसीदास जी स्वयं अपनी कविता की जैसी आलोचना करते हैं वैसी दूसरे से होना कठिन है। अस्तु। अपने सिद्धान्तानुसार कवि ने वीर, रौद्र तथा हास्य, तीनों रसों को 'शान्त' के शिखर पर पहुँचा दिया। अंत में कवि लिखता है—

कहि जै जै जै रघुकुल केतू, भृगुपति गए बनहिं तप हेतू।

परशुराम का राम के हाथ में धनुष देना ही मानो विश्व-नेतृत्व का चार्ज देना था। नई रोशनी के पाठकों को इस तीन 'जय' में तीन 'चियर्ज़' का मज़ा आ जायगा। सत्य और पशुबल का

साम्राज्य आज खतम हुआ और सत्य एवं शील के राम-राज्य का उषः काल शुरू हुआ। श्रीवास्तव जी के शब्दों में हम कहेंगे कि 'बोल गई माइ लाडे कुकड़ूकूं' पर यह। 'कुकड़ूकूं' नैतिक महिमा से खाली नहीं, क्योंकि वैसा बोलने वाला रंग-मंच को बड़े दर्प से छोड़ता है, लज्जा से नहीं। वैसा बोलने में उसके आत्मा का पूर्ण विकास है, पतन नहीं। यह है कवि की हास्य कला का कमाल!

इस सूत्र की दो मिसालें रामायण में और भी हैं। एक हनूमान-रावण संवाद आदि और दूसरा रावण-अंगद संवाद। मिसालें बड़ी सुंदर हैं अतः अवसर मिला तो किसी आगामी प्रकरण में उनकी भी व्याख्या करूँगा। यहाँ केवल संकेत कर देना काफ़ी है। एक तीसरी मिसाल और भी मजेदार है जहाँ भक्ति में चौंध कर केवट ने भगवान राम से 'कुकड़ूकूं' बुलाई है और इस मजे से कि उसने भगवान से अपनी मन-चाही करा ली। केवट और राम की बातों में मज़ाक केवट की ओर से जान-बूझ कर नहीं है, उस बेचारे को तो खबर भी न थी कि मैं 'कुकड़ूकूं' बुला रहा हूँ। इसीलिये मैं इसे परिस्थिति-व्यंग (Circumstantial humour) कहा करता हूँ। हाँ, राम में उपहास-भाव (Sense of humour) इतना सुंदर है कि वे ज़रूर अपने 'वन जाने' की बात समझ गए।

अब देखिए दूसरे सूत्र का लुत्फ़। श्रीवास्तव जी कहते हैं कि इस विषय की खोज कैन्ट (Cant) और हैजलिट (Hazlitt) ने की थी। वे कहते हैं कि बहुधा हास्य का कारण अनमिल-बे-जोड़पन (incongruity) हुआ करता है। श्रीवास्तव जी ने इसे सूत्रबद्ध करते हुए कहा है—

'पहलुए-हूर में लंगूर खुदा की कुदरत!

और मेरी समझ में इसी का दूसरा अंग 'छछूँदर लगावे चमेली का तेल' होना चाहिये।

श्रीवास्तव जी के कथनानुसार भी इसकी सबसे अच्छी मिसाल शिव-बरात और विवाह है। यदि आचार्य द्विवेदी जी की चेतावनी सामने न होती तो सारी परिस्थिति की रचना इतनी सुंदर है कि हर पद की व्याख्या करने को जी चाहता है। अस्तु। थोड़ी बहुत व्याख्या तो कर ही दूंगा। याद रहे कि पहले और इस दूसरे सूत्र में अंतर यह है कि इस सूत्र में दो पृथक्-पृथक् वस्तुयें, परिस्थितियाँ या व्यक्तियाँ जो अनमिल-बेजोड़ हों, बराबर मौजूद रहनी चाहिएं और पहले सूत्र में एक ही के पतन (Degradation) से काम चल सकता है। दो बातें और याद रखनी चाहिएं कि शिव में उपहास-भाव (Sense of humour) इतना प्रबल है कि उन्हें अपने हँसे जाने पर स्वयं आनंद आता है अतः वहाँ चिड़चिड़ेपन का पता नहीं। सच पूछिए तो व्यंग का यह अंग निभा देना बड़ा कठिन काम है। अधिक व्याख्या यथावसर की जायगी। दूसरी बात वही है जिसकी चेतावनी पहले सूत्र के साथ दी जा चुकी है—अर्थात् वही अनमिल-बे-जोड़पन हास्य-रस में गिना जा सकता है जिससे हँसी पैदा हो, नकि और कोई रस। शिव-बरात और विवाह में यह अंतर बहुत साफ़ प्रगट हो जाता है। देखिए, भयानक बरात को देखकर लड़के भयभीत होते हैं, देव-वधुयें हँसती हैं परन्तु पार्वती की माता के हृदय में जो करुण रस का प्रवाह उबल पड़ता है उसका ठिकाना नहीं। यथासमय इसकी भी व्याख्या की जायगी। यहाँ केवल संकेत काफ़ी है।

पार्वती जी का तप अपना असर कर चुका है। शंकर जी विवाह के लिये तैयार किए जा चुके हैं और तब सप्तर्षि पार्वती की परीक्षा के लिये भेजे जाते हैं। ऋषिगण साधारणतः पूछते हैं कि आप किस हेतु से तप कर रही हैं। पार्वती का उत्तर सुनिये—

.... हँसिहहु सुनि हमार जड़ताई
मनुहठ परा न सुनहि सिखावा, चहत बारि पर भीत उठावा।

नारद कहा सत्य सोइ जाना, बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना।
देखहु मुनि अविवेक हमारा, चाहिय सदा सिवहि भरतारा।

अनमिल-बेजोड़पन बिलकुल साफ़ है, पर अभी पार्वती में उपहास-भाव इतना प्रबल है कि उन्होंने स्वयं उपहास और व्यंग-पूर्ण उत्तर दिया और अनमिल-बेजोड़पन के दोनों अंशों को उभार दिया। परन्तु जब ऋषियों ने उपर्युक्त हास्य के नारद वाले अंश को उभारते हुए यों कहा :—

सुनत बचन बिहँसे ऋषि गिरि सम्भव तव देह,
नारद कर उपदेश सुनि कहहु बसेउ को गेह।

तब तक भी पार्वती ने बुरा नहीं माना, क्योंकि वस्तुतः ऋषियों की यह बात 'जड़ताई' और 'नारद कहा' की व्याख्या ही थी। परन्तु जब शिव के लिये अपमानसूचक शब्द प्रयुक्त हुए तो पार्वती में चिड़चिड़ाहट आ गई, यद्यपि निम्न पद भी सदाशिव की व्यङ्गपूर्ण व्याख्या ही हैं :—

..................तुम चाहहु पति सहज उदासी।
निगुन निलज्ज कुबेष कपाली, अकुल अगेह दिगंबर ब्याली।
पंच कहे सिव सती बिवाही, पुनि अवडेरि मराइन्ह ताही।

अब सुख सोवत सोच नहिं भीख माँगि भव खाहिं,
सहज एकाकिन के भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं।

जिन शब्दों के नीचे लकीरें हैं वे तो विशेष कर सदाशिव की बड़ी ही सुन्दर व्याख्यायें हैं, हाँ बीच-बीच में व्यङ्ग सम्बन्धी शब्द लाकर प्रसंग को व्यङ्गपूर्ण कर दिया गया है—जैसे "निलज्ज" और "भीख माँगि" "और भव खाहिं"। हालांकि ये भी गुणों के रूपान्तर ही हैं। जैसे भीख माँगना निग्रही के लिये अनुचित नहीं और 'लज्जा' माया का एक रूप ही है। दोहा तो ऐसा सुन्दर दुभाषी है कि व्याख्या आवश्यक हो जाती है। देखिये, 'शिव' जब

'सदाशिव' होते हैं तो कैवल्य के कारण एकाकी हो जाते हैं और नारिरूपी माया नीचे रह जाती है। इतने पर भी शायद पार्वती जी में चिड़चिड़ाहट न आती परन्तु ऋषियों ने जो शिव का अनमिल-बेजोड़पन विष्णु से दिखा दिया वही ग़ज़ब हो गया। विष्णु की सुन्दरता की प्रशंसा और उनका पार्वती से जोड़ मिलाते हुए ऋषि यों कहते हैं :—

……………… ' हम तुम कहँ बर नीक विचारा।
अति सुन्दर सुचि सुखद सुसीला, गावहिं वेद जासु जस लीला।
दूषण रहित सकल गुन रासी। ……… ………

अब भी चिड़चिड़ाहट में व्यंग ही शेष है। हाँ उपहास की जगह अब परिहास है और पार्वती ऋषियों का मखौल उड़ाती हुई कहती हैं :—

……………………' सुनत बिहँसि कह बचन भवानी।
सत्य कहहु गिरि भव तनु एहा, हठ न छूट छूटै बरु देहा।
नारद बचन न मैं परिहरहूँ, बसहु भवन उजरहु नहिं डरहूँ।

ऋषियों के दोनों मज़ाकों को बड़ी सुन्दरता से उलट दिया गया, साथ ही पार्वती की दृढ़ प्रतिज्ञा को भी स्पष्ट कर दिया गया, परन्तु है अभी हास्य के साथ ही। अब दूसरे ही पद में हास्य जाता और शान्त-रस बढ़ता हुआ दिखाई देता है :—

गुरु के बचन प्रीति नहिं जाही, सपनेहु सुगम न सुख सिधि ताही।

यहाँ हास्य का पता भी नहीं। ऋषियों ने पार्वती और विष्णु का ज़ोड़ तथा शिव का अनमिल-बेजोड़पन दिखाया था, उसका उत्तर पार्वती किस जोर के साथ देती हैं और यह सिद्ध करती हैं कि मानसिक जोड़ देखना चाहिए, शारीरिक नहीं :—

महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुन धाम,
जेहि कर मन रम जाहि सन ताहि ताहि सन काम।

अन्तिम पद प्रेम की एकाग्रता का कितना सुन्दर परिचायक है कि जनश्रुति बन चुका है। पार्वती में हास्य-रस फिर उमड़ आता है और वह ऋषियों का कैसा अच्छा मखौल उड़ाती है :—

जो तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी, रहि न जाइ बिनु किये बरेषी।
तौ कौतुकियन आलस नाहीं, बर कन्या अनेक जग माहीं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि ऋषिगण केवल परीक्षा के निमित्त आए थे अतः उनकी वक्तृता में जान-बूझ कर दुभापीपन है। इसी लिये तो तुलसीदास को कलाकारी में कारीगरी का मौक़ा मिल गया और यह तो तुलसीदास की कला का गुण सब मानते ही हैं कि उनकी कलाकारी और कारीगरी में बड़ी स्वाभाविकता होती है। पार्वती ने जब ऋषियों को 'देखुआ' और कौतुकी बना दिया और वह विष्णु की सुन्दरता के प्रलोभन में न पड़ीं तो ऋषियों ने उदारता-पूर्वक उनकी विजय मान ली। दृश्य हास्य से उठ कर शान्त-रस के उस शिखर पर जा पहुँचा जो महाकाव्य की विशेषता है।

तुम माया भगवान शिव सकल जगत पितु मात,
नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि पुनि हर्षित गात।

यहाँ भी मानो 'कुकड़ूँ कूँ' बोलने वाले ऋषिगण रङ्गमंच को सहर्ष ही छोड़ते हैं।

कामदेव का देवताओं की प्रेरणा से शिव-समाधि भङ्ग करने का प्रयत्न करना और उसका भस्म किया जाना हास्य के प्रसंग से पृथक हैं अतः उन्हें नहीं लिखा जाता। अन्त में जब कामदेव के भस्म होने की कथा घर-घर फैल गई तो ऋषियों को एक और मौक़ा हाथ आया और वे पुनः पार्वती के पास गए। कवि लिखता है :—

...............बोले मधुर वचन छल सानी।
कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेश,
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेहु काम महेश।

परीक्षा बड़े ग़ज़ब की थी और व्यंग का माधुर्य तो स्पष्ट है ही। यदि पार्वती-प्रेम में कुछ भी विकार होता तो उन्हें शोक अवश्य होता। अस्तु। पार्वती मज़ाक़ को ताड़ गईं और मुस्कुरा कर बोलीं :—

तुम्हरे जान काम अब जारा, अब लगि शम्भु रहे सविकारा।
हमरे जान सदाशिव जोगी, अज अनवद्य अकाम अभोगी।

मखौल कितना साफ़ है कि आप लोग ऋषि होते हुए भी असली रहस्य न समझ सके और शिव में विकार की संभावना मान ली। वक्तृता का आगामी अंश हमारे प्रसंग से बाहर है अतः यहाँ उद्धृत नहीं किया जाता। परन्तु उसमें प्रेम की दृढ़ता और प्रतिज्ञा की अटलता कूट-कूट कर भरी है और कामदेव के भस्म होने का रहस्य भी खोल दिया गया है। यह भी प्रगट कर दिया गया है कि सच्चे प्रेम को अपने ऊपर विश्वास होता है जैसा किसी उर्दू कवि ने कहा है कि :—

कच्चे धागे से चले आएँगे सरकार बँधे।

अब बरात के चलने से पहले शिवजी की सज-धज और उन का नख-शिख-वर्णन देखिए :—

...............जटा मुकुट अहि मौर सँवारा।

कुंडल कंकन पहिरे व्याला, तन विभूति पट केहरि छाला।
शशि ललाट सुन्दर सिर गङ्गा, नैन तीन उपवीत भुजंगा।
गरल कंठ उर नर शिर माला,..................................

चित्र में स्वयं अनमिल-बेजोड़पन है जैसा तीसरे पद से स्पष्ट हो गया है। परन्तु क्योंकि यह किसी नक़्क़ाल का भरा हुआ भेस नहीं है बल्कि शिव-व्यक्तित्व के वास्तविक रहस्य का प्रगटीकरण है, अतः तुलसीदास जी आलोचना करते हुए स्वयं कहते हैं :—

असिव भेस शिवधाम कृपाला।

अब आगे चलिए :—

कर त्रिशूल अरु डमरु विराजा, चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा।

मैं तो जब इस प्रसंग को पढ़ता हूँ तो मेरे मुँह से अनायास ही निकल जाता है कि "बलिहारी भँगघुटना बाबा की, क्या शक्ल बनाई है!"

देव-वधुयें इस रूप को देखकर कैसी अच्छी चुटकी लेती हैं और कहती हैं :—

बर लायक दुलहिन जग नाहीं।

अनमिल-बेजोड़पन बिलकुल ही साफ़ हो जाता है जब हम कवि के शब्दों में पार्वती जी का वर्णन पढ़ते हैं :—

देखत रूप सकल सुर मोहे, बरनै छवि अस जग कवि को है।

स्मरण रहे कि तुलसीदास जी ने शृङ्गार-रस को सदा मर्यादित रखा है। इसीलिये किसी स्त्री का नख-शिख-वर्णन नहीं किया। राम-वियोग में जो वर्णन सीता जी का किया है वह भी उपमाओं के संकेत से। किसी अंग-विशेष का वर्णन नहीं। इसीलिए यहाँ भी पार्वती-वर्णन को :—

सुन्दरता मर्याद+भवानी

कह कर समाप्त कर दिया है। यह भी स्मरण रहे कि बाह्य रूप में यह अनमिल बेजोड़पन है, अन्यथा "शिव-धाम कृपाला" का संकेत महाकाव्य-पक्ष में साफ़ बता रहा है कि वह :—

सुन्दरता मर्याद भवानी

के लिये योग्य पति ही हैं। अस्तु। यहाँ प्रसंग हास्य-रस का है, अतः इन बातों के अधिक लिखने की जरूरत नहीं।

अब देवताओं की चुटकी देखिए। कहते हैं :—

नहि बरात दूलह अनुरूपा।

भगवान विष्णु इस व्यंग के संकेत को ताड़ गए और स्वयं भी चुटकी लेते हुए और शिव-समाज तथा अन्य देव समाजों का अनमिल-बेजोड़पन अधिक स्पष्ट करने के हेतु यों कहते हैं कि भाई ! अपने-अपने समाज में चलो क्योंकि :—

वर अनुहार बरात न भाई, हँसी करैहौ परपुर जाइ ।

शिव जी में उपहास-भाव इतना भरा हुआ है कि वह मुस्कुराते हुए सोचते हैं :—

मनही मन महेश मुस्काहीं, हरि के व्यंग वचन नहिं जाहीं ।

इतना ही नहीं, वल्कि मज़ाक़ की पूर्ति में स्वयं भाग लेते हुए अपने प्रिय विष्णु के वचन को पूरा करने के लिये अपने समाज को अपनी ओर बुला लेते हैं। कवि लिखता है :—

भृङ्गिहिं प्रेरि सकल गन टेरे ।

क्या लुत्फ़ है। शिव-संगियों का वर्णन पढ़िए, हँसिए और कवि की हास्यकला की दाद दीजिए। शिव जी अपने उपहास-भाव से अब तनिक परिहास-भाव पर आ गए और स्वयं अपने समाज को देखते हुए हँसते हैं। कवि लिखता है :—

विहँसे शिवसमाज निज देखी ।

आप भी शिव-समाज को देखिए और हँसिए। अनमिल-बेजोड़पन का इससे सुन्दर चित्र मिलना कठिन है : —

कोउ मुखहीन विपुल मुख काहू, बिनु पद कर कोऊ बिनु पद बाहू ।
विपुल नैन कोउ नैन विहीना, रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनु छीना ।

तन खीन कोउ अति पीन, पावन कोउ अपावन गति धरे,
भूषण कराल कपाल कर सब सद्य शोणित तन भरे ।
खर स्वान सुअर शृगाल मुख गन वेष अगनित को गने,
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगिनि भाँति बरनत नहिं बने ।

नाचहिं गावहिं गीत परम तरङ्गी भूत सब
देखत अति विपरीत बोलहिं बचन विचित्र विधि।

अब अलबत्ता 'जस दूलह तस बनी बराता' की बात पूरी हो गई। अनमिल-बेजोड़पन का जोड़ अब जा कर मिला। बहुत अच्छा! यह व्यङ्ग-चित्र सर्व साधारण को इतना रुचिकर हुआ है कि आज भी धनी वैश्यों के लड़कों के विवाहों में विदूषक लोग उसी शिव-समाज की नक़ल में हास्यजनित प्रगतियाँ करते देखे जाते हैं, क्योंकि शिव की बरात सौभाग्य सूचक समझी जाती है।

अब इस समाज के स्वागतार्थ जो महफ़िल महाराज हिमाचल ने तैयार कराई थी उसका चित्र देखिए और अनमिल-बेजोड़पन पर हँसिये :—

यहाँ हिमाचल रचे विताना, अति विचित्र नहिं जाय बखाना।

उभय विचित्रताओं का अनमिल-बेजोड़पन कितना हास्यप्रद है।

प्रथमहिं गिरि सब गृह सँवराए, यथा योग्य जहँ तहँ सब छाए।
पुर शोभा अवलोकि सुहाई, लागै लघु विरंचि निपुणाई।

लघु लागि विधि की निपुणता अवलोकि पुर शोभा सही,
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही।
मंगल विपुल तोरण पताका केतु गृह गृह सोहहीं,
बनिता पुरुष सुन्दर चतुर छवि देखि मुनि मन मोहहीं।

मानो एक ओर शिव-समाज और दूसरी ओर हिमांचल-पुरी का विरोध, अनमिल—बे जोड़पन का एक अनुपम उदाहरण रूप में ही रचा गया है। हास्य-रस की एक सूक्ष्म बात याद रहे कि शिव-समाज का चित्र तभी हास्य-प्रद हो सकता है जब शिव-गणों का रूप भी भीतर से कल्याणकारी और बाहर से ही अशिव माना जाय, अन्यथा यही दृश्य भयानक-रस का सूचक हो सकता है। इसी लिये मैं कह चुका हूँ कि लड़के जो इस रहस्य को समझ नहीं

सके, भयभीत हुए और बड़े, जो इसे समझ सकते थे उनके लिये यह हास्य का मसाला बना। स्त्रियों और पार्वती की माता के लिये भय के साथ करुण-रस भी आ गया, क्योंकि यह समाज पार्वती के भाग्य का सूचक था। ऐसी सुन्दरि को किस समाज के बीच रहना पड़ेगा। श्रीवास्तव जी के सूत्र के शब्दों में— 'पहलुए हूर में लंगूर ,खुदा की कुदरत!' यही था। पर मेरी समझ में यहाँ इस हास्य-सूत्र का वह अंश अधिक प्रमुख है जिसे मैंने 'छछूँदर लगावे चमेली का तेल' कहा है।

लड़के जब बरात को देखकर भागे और घर आए तो कवि लिखता है:—

गए भवन पूछहिं पितु माता, कहहिं बचन भय कंपित गाता।

जिन शब्दों के नीचे लकीर है उनकी फ़िल्म-कला पर विचार कीजिए।

कहिय कहा कहि जात न बाता, यमके धारि कि धौं बरि याता।
बर बौराह बसह असवारा, ब्याल कपाल विभूषण छारा।

तनु छार ब्याल कपाल भूपण नगन जटिल भयंकरा।
संग भूत प्रेत पिसाच योगिनि बिकट मुख रजनीचरा।
जो जियत रहहि बरात देखत पुण्य बड़ तिन कर सही।
देखिहैं सो उमा विवाह घर घर बात अस लड़कन कही।

कितना भयानक दृश्य है। लड़के जान बचाकर भाग आए। हास्य का लुत्फ़ देखिए कि इस समय इस भयानक दृश्य से हमें लड़कों पर हँसी ही आती है और शिव-बरात पर तो हम हँसते चले ही आ रहे हैं। कवि लिखता है—

समुझि महेश-समाज सब जननि जनक मुसकाहिं।

यह मुस्कान भी दुतर्फ़ा है—महेश की समाज पर और बालकों की बुद्धि पर। 'बर बौराह बसह असवारा' में तो शिव का ऐसा

हास्यप्रद चित्रण है कि जन-श्रुति बन चुका है। चित्र के बहुत से अंश मैंने छोड़ दिए हैं, नहीं तो सारा चित्र फ़िल्म कलाकारों के लिये बड़ा ही सुन्दर है, विशेषतः चित्र के नोक-पलक विचारणीय हैं।

अब 'परिछन' के लिये जो स्त्रियाँ आरती साजे आ रही थीं उनका हाल देखिए—

मैना शुभ आरती सँवारी, संग सुमंगल गावहिं नारी।
कंचन थार सोह वर पानी, परिछन चलीं हरहिं हरषानी।
विकट वेष जब रुद्रहि देखा, अबलन उर भय भयउ विशेषा।
भाजि भवन पैठीं भय आसा, गए महेश जहाँ जनवासा।

क्या यह चित्र हास्य और फ़िल्म-कला से ओत-प्रोत नहीं? कौन है जो इसे हँसे बिना पढ़ सके? अनमिल बे जोड़पन का सूत्र भी ख़ूब निभाया गया है। पर यहाँ हमारी हँसी टिकाऊ नहीं। कवि लिखता है—

मैना हृदय भयउ दुख भारी, लीन्ह बोलि गिरि राज कुमारी।
अधिक सनेह गोद बैठारी, श्याम सरोज नैन भरि वारी।
जेहि विधि तुमहिं रूप अस दीन्हा, तेहि जड़ वर बाउर कस कीन्हा।

कस कीन्ह वर बौराह विधि जिन तुमहिं सुन्दरता दई।
जो फल चहिय सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई।
तुम सहित गिरते गिरहुँ पावक जरहुँ जलनिधि महँ परौं।
घर जाउ अपयश होउ जग जीवित विवाह न हौं करौं।

भईं विकल अबला सकल विकल देखि गिरि नारि,
करि विलाप रोदति वदति सुता सनेह सँभारि।

यहाँ अनमिल-बे जोड़पन से करुण-रस उमँड आता है। इसी लिये तो हम कहते हैं कि उसी प्रसंग में अनमिल-बे जोड़पन की गणना हास्य-रस में हो सकती है जहाँ हँसी उत्पन्न की जा सके।

हीं, कवि का कमाल यह है कि चित्र एक ही है परन्तु उसी से एक ओर हास्य, दूसरी ओर भयानक और तीसरी ओर करुण-रस उत्पन्न हो गया है "जो फल चहिय सुरतरुहि सो वरवस ववूरहि लागई"—"छछूँदर लगावे चमेली का तेल" का सकरुण रूपान्तर ही है।

इसके बाद का हिस्सा हमारे प्रसंग से बाहर है अतः यहाँ उसे लिखने की ज़रूरत नहीं, पर इतना अवश्य कहेंगे कि शान्तिमय शब्दों में पार्वती जी ने अपनी माता को भाग्य पर सन्तुष्ट होने का उपदेश दिया है। पतिव्रत-धर्म को बड़े सुन्दर संकेत के साथ उभार देती हैं। माता के सामने और किसी स्पष्ट रूप में कहना ठीक न होता। नारद ने भी यहीं सब को संतोष दिलाने के लिये शिव के रूप एवं चरित की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। परिणाम भी बड़ा ही सुन्दर हुआ और नारद-संवाद की खबर घर घर फैल गई। करुण-रस का प्रवाह रुक गया और आनन्द एक बार फिर छा गया :—

तब मैना हिमवंत अनन्दे, पुनि पुनि पार्वती पद वन्दे।

हम ने हास्य, भयानक और करुण रसों का चढ़ाव-उतार देखा और अब फिर शान्त-रस के उस उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिए गए जहाँ शिव और शिवा की जोड़ी संसार के कल्याण एवं आनन्द के लिये सामने है। यही वह रूप है जिसकी वन्दना वेद करते हैं और इसीलिये दम्पति माता-पिता भी उस शिवा-रूप की पद-वंदना ही करते हैं। तुलसी जी की प्रहसन-कला का एक और नमूना खतम हुआ, परन्तु कवि का वही सिद्धान्त फिर याद कीजिए कि उसके दृष्टिकोण से कोई हास्य-चरित सर्वदा हास्य-चरित नहीं रहता और न कोई जीवन सदा हास्य-पूर्ण रहता है। इसी तरह हर अनमिल-से जोड़पन भी हास्यप्रद नहीं होता। देश-काल, पात्र का विचार सदा आवश्यक है।

एक नैतिक विषय, विश्व-साहित्य से सम्बद्ध होने के कारण विचारणीय है। मैंने " रामायण में करुण-रस " शीर्षक लेख-माला में यह स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिमी दुखान्त नाटकीय सिद्धान्त के कारण आदर्शवाद (Idealism) सर्वदा असफल ही समझा जाता है। नवीन साहित्य-युग के एक प्रतिनिधि बर्नार्डशा अवश्य हैं। उन्होंने भी अपने 'Man and superman' नामी नाटक में आदर्शवाद का मखौल ही उड़ाया है। टैनर एक आदर्शवादी था जो संसार से विरक्त होकर त्यागपूर्ण जीवन बिताना चाहता था। अना मायारूप स्त्री थी जो उसे आदर्श के आकाश से वास्तविकता की पृथ्वी पर खींच लाना चाहती थी। आख़िर टैनर माया के फन्दे में पड़ गया और विवाह हो गया। पर बेचारे की आदर्श-पूर्ण भावनायें अब भी बनी हुई थीं। वह भोग-विलास की सारी सामग्री बेचकर अब भी एक कुटिया बनाना चाहता था। अना की सखियाँ उसकी ऐसी आदर्श पूर्ण वक्तृता सुनकर सतर्क हुई तो उसने कहा 'उन्हें बकने दो' (Let him talk)। आह, जीती हुई माया अपने पराजित व्यक्ति की सिर्फ़ बातों वाली डींग की परवा नहीं करती। पश्चिमी संसार में आदर्शवाद की मिट्टी तो अब भी पलीद ही है, पर यहाँ देखिए कि आर्य सभ्यता में शिव-पार्वती-विवाह बड़े मर्म की चीज़ है। आज भी स्त्री-समुदाय में पतिव्रत-धर्म के नाते पार्वती-पूजा को ही प्रमुखता प्राप्त है; और शिव जी तो 'सदा शिव योगी' तथा आदर्श एवं विराग की मूर्ति ही समझे जाते हैं। विवाह का आदर्श विश्व-कल्याण के हेतु संतानोत्पत्ति है। पार्वती का आदर्श भोग-वासना नहीं अपितु सेवा है। वह अना की तरह शिव को नीचे नहीं घसीटतीं परन्तु अपने को शिव के अर्पण करती है। शिव-पार्वती-विवाह के बाद शिव के किसी आदर्श में बट्टा नहीं लगा। उनकी कुटी की सजावट वही योगी की कुटी की सजावट बनी रही, हाँ उसमें अन्नपूर्णा के सौन्दर्य

का समावेश अवश्य हो गया जिससे जीवन का रूखा-सूखापन जाता रहा।

यों तो इस सूत्र की और भी मिसालें मिलेंगी परन्तु एक छोटी सी मिसाल और लिखने लायक है। भरत जी कुटुम्ब और अयोध्यावासियों के साथ राम को मनाने जा रहे हैं, परन्तु निषाद-राज को उनके गुप्त चरों ने समस्या को न समझते यह पता दिया कि भरत जी चतुरंगिणी सेना के साथ चित्रकूट की ओर जा रहे हैं। राम-वनवास से असंतोष तो वैसे ही फैला हुआ था, अब यह सुनकर कि भरत जी सेना सहित चित्रकूट जा रहे हैं, उस असंतोष ने राज-विद्रोह का रूप धारण किया। हास्य-रस सम्बन्धी टिप्पणी तो हम करेंगे ही, परन्तु राजनीति सम्बन्धी एक मर्म की बात कहे बिना नहीं रह सकते। देखिए, जनता भगवान राम से इतनी सहानुभूति रखती थी कि तनिक सी शंका पर भरत-विद्रोह पर तैयार हो गई। विचारिए कि यदि राम और भरत दोनों त्यागी न होते तो अयोध्या के राज्य में गृह-युद्ध का वह दृश्य दिख पड़ता जिसे हम महाभारत में देख चुके हैं और जो अब भी हमारे सामने स्पेन में हो रहा है। जिन्हें अपनी सेना-शक्ति का घमंड है उनके लिये यह विचारणीय है कि विद्रोही अपनी धुन में ऐसा मस्त होता है कि वह हथेली पर जान रख अपनी आदर्श-वेदी पर अपना बलिदान करने को खड़ा हो जाता है और यह नहीं सोचता कि मैं जीत भी सकूँगा या नहीं। सत्य के लिये विद्रोह करना वह अपना धर्म समझता है, आगे चाहे जो भी हो। प्रत्येक निषाद जनता था कि— 'राम-काज' है और 'समर-मरन' 'क्षण भंग शरीर' है और 'सुरसरि तीर'।

अब तनिक अक्षौहिणी-दल के मुक़ाबिले के लिये निषादों की तैयारी देखिए! कौन है जो इस चित्र को मुसकाए बिना देख सके?—

सुमिरि राम पद पंकज पनहीं, भाथा बाँधि चढ़ावहिं धनुहीं।
अंगिरि पहिर कुण्ड सिर धरहीं, फरसा बाँस सेल सम करहीं।
एक कुशल अति ओडन खाँडे, कूदहिं गगन मनहु क्षिति छाँड़े।

चित्र इतना सुन्दर है कि हमने इसे एक जगह और दुहराया है। उपन्यास और नाटक को वास्तविक भाषा के प्रेमी इस ग्रामीण भाषा का आनन्द लूटेंगे। ज़रा निषादों का ज़ोर तो देखिए। कहते हैं—

राम प्रताप नाथ बल तोरे, करहिं कटक बिनु भट बिनु घोरे।

बाँस के सीधा करने वालों का यह जोर! चित्र कितना सच्चा है पर दुतर्फ़ा। निषादों में वीर-रस की उमङ्ग और हमारे लिये हँसने की सामग्री!

जैसा शेक्सपियर के पाठकगण 'हैमलेट' और 'जूलियस-सीज़र' में देख चुके होंगे, जनता के विचार बदलते भी बड़ी तेजी से हैं। यहाँ भी एक ओर छींक हुई और विचारों में परिवर्तन आरम्भ हो गया। छींक क्या थी, नाटकीय भावों के परिवर्तन की सूचना थी।

हास्य-रस का तीसरा सिद्धान्त वह है जिसे श्रीवास्तव जी 'कठपुतलीपन' (Automatism) कहते हैं। उन्होंने इसके लिये जो सूत्र बनाया है वह यह है—

पा बदस्ते दिगरे दस्त बदस्ते दिगरे।
[पाँव किसी के हाथ में हाथ किसी के हाथ]

मानो हास्य-चरित परिस्थितियों तथा भावों से विवश हो अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है और बिलकुल कठपुतली बन जाता है। इसकी एक बड़ी सुन्दर और रोचक मिसाल रामचरित-मानस में यह है जिसमें सीता जी को प्रेम-विवश करके पुष्प-वाटिका में

भ्रमण कराया है। राजकुमारों के विषय में सखियों की वार्ता सुन कर सीता-हृदय में उनके देखने की लालसा उत्पन्न होती है और वह भी एक 'प्रिय सखी' के पीछे चल देती है। कवि लिखता है:—

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखै न कोई।

यहीं से ही इस सुन्दर, मार्मिक परन्तु सूक्ष्म कठपुतलीपन का प्रारम्भ होता है जो शनैः शनैः हमारे दिल में गुदगुदी पैदा करना शुरू करता है। एक जगह सीता जी प्रेम की विवशता में राम की मूर्ति को ध्यान में रख आँखें बंद कर लेती हैं, सखियाँ हजार कोशिश करती हैं पर आँख नहीं खुलती। तब एक सखी ने चुटकी ली और यह कहा :—

बहुरि गौरि करि ध्यान करेहू, भूप किशोर देखि किन लेहू।

इसी के साथ हाथ का झटका देने पर ही सीता को होश आया। तनिक राजकुमारों के दर्शन किए तो फिर वाटिका से जाना ही न चाहती थीं। एक दूसरी सखी को मजाक करना पड़ा जिसने कहा :—

पुनि आउब यहि बेरिया काली, अस कहि बिहँसि चली इक आली।

अब सीता जी लाचारी में कठपुतली की तरह चल पड़ीं पर हृदय की दर्शन-लालसा पूरी न हुई। कवि लिखता है :—

देखन मिस मृग विहँग तरु फिरै बहोरि बहोरि,
निरखि निरखि रघुबीर छवि बाढ़ी प्रीति न थोरि।

यह है प्रेम का कठपुतलीपन जिसे एक उर्दू कवि ने ख़ूब लिखा है :—

आई कहाँ से गर्दिशे परकार पाँव में।

खूब! दिल और आँखें राम के अधिकार में और पैर सखियों के! इस सूत्र की एक और बड़ी सुन्दर मिसाल वह है जिसमें

हनूमान जी ने अपना खिलाड़ीपन दिखाया है। जब हनूमान जी लंका में बाँध लिये गए और रावण का हुक्म यह हुआ कि उनकी पूँछ जला दी जाय तो राक्षसगण पूँछ में तेल से भीगे हुए कपड़े लपेटने लगे। खिलाड़ी हनूमान ने पूँछ इतनी बढ़ाई कि :—

रहा न नगर बसन घृत तेला, बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।

हज़रत जान बूझ कर कठपुतली बने हैं। कवि लिखता है :—

कौतुक कहँ आए पुरवासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी।

वाह, क्या खिलाड़ीपन है! नहीं तो हनूमान जी यह चरण-प्रहार सहें और चुप रहें?

बाजहिं ढोल देहिं सब तारी, नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी।

मुँह से अनायास ही निकल पड़ता है कि वाहरे नटखट हनूमान! सारी टोली को नटों का समाज बना दिया! कैसे ढोल बज रहे हैं और तालियाँ पिट रही हैं!

जब पूंछ में आग लगाई गई तब खिलाड़ी ने अपना रुख बदला और लंका में कूद-कूद कर ख़ूब आग लगाई। हँसने वालों में रोने-चिल्लाने का कोलाहल मच गया और लंका भर में हाहाकार होने लगा। किसी और प्रकरण में हम इस दृश्य की अधिक व्याख्या करेंगे परन्तु यहाँ इस सूत्र के विषय में इतना ही अलम् है।

हास्य-रस का चौथा सिद्धान्त वह है जिसे 'उच्छृंखलता' (Sense of liberation) कहते हैं। हमें हास्य-चरित पर इसलिये हँसी आती है कि वह सामाजिक और नैतिक बंधनों से अपनी नकेल तुड़ा कर भागता है। श्रीवास्तव जी इस सिद्धान्त को साहित्यिक नहीं मानते और कहते हैं कि इसका प्रयोग अधिकतर भँड़ैती और अश्लील गालियों के मज़ाक वग़ैरः में होता है तुलसी का क़माल यह है कि उन्होंने इस सिद्धान्त का भी बड़ा ही सुन्दर साहित्यिक

प्रयोग किया है। हम धनुष-यज्ञ में राजाओं की उछल कूद और निषादों की लड़ाई की तैयारी देख चुके हैं। राम और शिव दोनों के विवाहों में व्यंगपूर्ण गालियों के गान की ओर संकेत हुआ है और उनके द्वारा बरातियों को हँसाया गया है। पर याद रहे कि व्यंगपूर्ण मधुर गान और चीज़ है और गाली गलौज और चीज। मज़ाक का लुत्फ़ यही है कि अश्लील बात भी इस ढँग से कही जाय कि शब्दों में व्यक्त न हो बल्कि केवल संकेत हो। इस सिद्धान्त की सबसे फड़कती हुई मिसाल सूर्पनखा का आना और उसका तथा राम-लक्ष्मण का पारस्परिक संवाद है। देखिए, उसके हाव-भाव का चित्र कवि किस प्रकार खींचता है :—

रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ आई, बोली वचन बहुत मुसुकाई।

यह 'बहुत मुसुकाना' स्पष्ट कर देता है कि निर्लजता में सूर्पनखा नैतिक परिधि से बाहर निकल गई और यही हमारे हास्य का कारण है।

तुम सम पुरुष न मो सम नारी, यह सँयोग विधि रचा विचारी।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं, देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।
ताते अब लगि रहेउँ कुँवारी, मन माना कछु तुमहिं निहारी।

जिन निर्लज्जतापूर्ण संकेतों से इस वक्तृता को सूर्पनखा ने पूरा किया होगा वे हमारे आँखों के सामने आ जाते हैं और हम हँसे-बिना नहीं रह सकते। लाज तो जाती ही रही थी, सचाई भी इस वाक्य में नहीं। अन्य रामायणों के पढ़ने वाले जानते हैं कि सूर्पनखा विधवा थी, कुमारी नहीं।

राम ने भी पहले इस बात की चेष्टा की कि अगर यह निर्लज्जता क्षणिक हो तो उसे थोड़े मज़ाक से दूर कर दिया जाय, राम कहते हैं :—

सीतहिं चितै कही प्रभु बाता, अहै कुमार मोर लघु भ्राता।

सीता की ओर संकेत करना ही सूर्पनखा की निर्लज्जता दूर करने के लिये काफ़ी होता परन्तु दूसरा संकेत लक्ष्मण की ओर बड़े ही मार्के का है। बहुत से लोग इस 'कुमार' शब्द पर असाहित्यिक आक्षेप करते हुए कहते हैं कि लक्ष्मण वस्तुतः 'कुमार' न थे। वे भूल जाते हैं कि स्मृति-कारों ने भी हास्य में झूठ को क्षम्य माना है। जन-श्रुति भी यही है कि वाक़ये (वास्तविकता) का मज़ाक न होना चाहिए। फिर यह 'कुमार'-शब्द तो सूर्पनखा के कुमारपन का जवाब ही है और है दुभार्थी। जब राम राजा हैं तो लक्ष्मण कुँवर (कुमार) हुए ही। सूर्पनखा निर्लज्जता से लक्ष्मण के पास पहुँची तो उन्होंने भी मज़ाक का दूसरा वार किया कि शायद अब निर्लज्जता दूर हो जाय :—

सुन्दरि सुनु मैं इन कर दासा, पराधीन नहिं तोर सुपासा।
प्रभु समरथ कौशलपुर राजा, जो कछु करैं उनहिं सब छाजा।

लक्ष्मण चुलबुली तबियत के थे ही, अपने वार में राम को समेट लिया। मज़ाक कितना अच्छा है कि यदि तू मेरे साथ रहेगी तो जैसे मैं दास हूँ, तुझे भी दासी बन कर रहना पड़ेगा। हाँ राम जी अवश्य कौशल पुरी के राजा हैं और एक से अधिक रानियाँ रख सकते हैं। लक्ष्मण ने सिर्फ़ मज़ाक ही नहीं किया बल्कि उपदेश भी दिया और संकेत में यह भी कह दिया कि सेवक को सुख, भिखारी को मान, व्यसनी को धन और व्यभिचारी को 'सुभ गति' नहीं मिल सकती। परन्तु निर्लज्जता भी ऐसी थी कि वह अब भी न चेती। कामातुरता को चित्रित करते हुए कवि लिखता है—

पुनि फिरि राम निकट सो आई, प्रभु लछिमन पहँ बहुरि पठाई।

यहाँ कामातुरता और निर्लज्जता की 'गर्दिश पर कर' है। लक्ष्मण ने अब साफ़ कह दिया—

लछिमन कहा तोहिं सो वरई, जो तृन तोरि लाज परिहरई।

अब तो वह खिसिया गई। कवि लिखता है—

तब खिसियानि राम पहँ गई, रूप भयंकर प्रगटत भई।
बिथुरे केस रदन विकराला, भृकुटी कुटिल करन लगि गाला।

हास्य-चरित का खिसिया कर क्रुद्ध होना किस सुन्दरता से दिखाया गया है। हमारे प्रसंग से तनिक बाहर जरूर है पर क्योंकि बहुधा इस घटना पर नैतिक आक्षेप हुआ करता है अतः कुछ नैतिक आलोचना भी आवश्यक है। हम अभी राम और लक्ष्मण को नैतिक चिकित्सक के रूप में धनुष-यज्ञ में देख चुके हैं। उन दोनों ने यहाँ भी व्यंगों द्वारा निर्लज्जता को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु औषधि व्यर्थ हुई, यहाँ तक कि लक्ष्मण के अंतिम वाक्यों से लज्जा की जगह खिसियाहट पैदा हुई और सूर्पनखा ने अपना असली रूप प्रगट कर दिया जिस से सीता जी डर गई। तब जाकर राम ने इशारा किया और लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काटे। रोग असाध्य था अतः नैतिक चिकित्सकों ने उसे निर्लज्जता का दंड देकर संसार को उसके जाल से बचाया। जब राक्षसी रूप प्रगट हो गया और यह मालूम हो गया कि यह रावण की बहिन है तो कवि साफ़ लिखता है—

लछिमन अति लाघव सों नाक कान बिनु कीन्ह,
ताके कर रावन कहँ मनहु चुनौती दीन्ह।

' चैलेंज ' बहुत साफ़ है। राम जी ऋषियों की हड्डियों का ढेर देख कर पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके थे कि

निश्चर हीन करो महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

जिस रावण ने उस समय की सभ्य जातियों की स्त्रियों, कन्याओं आदि को हरा था, आज उसकी बेहया बहिन के द्वारा उसे प्रत्युत्तर ही तो मिल रहा है। जिस समय भीमसेन ने गदा युद्ध में दुर्योधन की कमर के नीचे वार किया था और बलदेव जी बहुत

क्रुद्ध हुए तब श्रीकृष्ण ने आख़िर यही तो उत्तर दिया था कि उस समय आप कहाँ थे जब दुष्ट दुर्योधन ने द्रौपदी को नग्न करके अपनी जंघा पर बिठाने का प्रस्ताव किया था। अस्तु।

यह सच है कि साहित्य में इस सिद्धान्त का निभाना तुलसीदास जैसे विरले ही हास्य-कलाकार का काम है, पर फिर भी मैं इस विषय में श्रीवास्तव जी से सविनय विरोध करते हुए कहूँगा कि मैं इस हास्य का चौथा सिद्धान्त मानता हूँ। यह नहीं कि इसे साहित्यिक परिधि से बाहर निकाल दूँ।

हास्य-रस का पाँचवाँ सिद्धान्त वह है जिसे श्रीवास्तव जी 'आशा तथा अवसर की प्रतिकूलता' कहते हैं। चूँकि यह सिद्धान्त उन्होंने स्वयं खोज कर निकाला है अतः हम उन्हें धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सके। यों तो खींच-खाँच कर एक सिद्धान्त को दूसरे के भीतर लाया जा सकता है परन्तु जब कोई विषय स्पष्टतः पृथक् प्रतीत हो तो उसे पृथक् सिद्धान्त ही समझना चाहिए। देखिए न, मैंने भी गंगा पार करते समय वाली राम और केवट की वार्ता को एक दूसरे ही सिद्धान्त के अन्तर्गत लिखा है। पर वहाँ भी मेरी लेखनी से आप ही आप 'परिस्थिति-व्यंग' (circumstantial humour) का शब्द निकल गया है जो 'अवसर की प्रतिकूलता' का रूपान्तर ही है। श्रीवास्तव जी ने इसका सूत्र यों लिखा है कि—

'जिसे समझे थे ख़मीरा वह भसाकू निकला'

पर मेरी समझ में इसमें आशा की प्रतिकूलता तो आ जाती है, परन्तु अवसर की प्रतिकूलता नहीं, और न इसमें अज्ञात-हास्य वाला अंश आता है। अस्तु। इस सिद्धान्त की दो तीन मिसालें हम पहले दे चुके हैं, जैसे नारद जी को (ख़मीरा) समझा जाता था पर वह भी एक समय 'भसाकू' निकले। हिमांचल नगरी के

लोग बनाव-सिंगार का दूलह देखना चाहते थे पर शिव-समाज वहाँ भी 'भसाकू' ही था···। एक मिसाल और भी बड़ी फड़कती हुई है अतः उसे यहाँ लिख देना चाहता हूँ। हनूमान जी संजीवन-मूल लेने जा रहे थे और कालनेम नामी राक्षस राह में फ़क़ीर-बना हुआ बैठा था, और ख़ूब बना था कि हनूमान भी धोखे में आकर हज़रत को ख़मीरा समझे—

जाइ पवन सुत नायेउ माथा, लागि सो कहन राम गुन गाथा।
होत महारन रावन रामहिं, जीतहिं राम न संशय या महिं।
यहाँ भये मैं देखों भाई, ज्ञान दृष्टि बल मोहिं अधिकाई।

हज़रत ने अपनी ज्ञान-दृष्टि का पौवा भी जमा दिया और हनूमान को विश्वास दिलाने के लिये ख़ुशामदाना भविष्यवाणी भी कर दी!

हनूमान ने पानी माँगा। बने हुए फ़क़ीर ने कमंडल दिया तो उन्होंने कहा कि इतने थोड़े जल में मेरी प्यास न बुझेगी। अब कालनेम को अपना जाल फैलाने का और भी अवकाश मिल गया। वह कहता है—

सर मज्जन करिआतुर आवहु, दीक्षा देहुँ ज्ञान जेहिं पावहु।

इस 'आतुर' के उतावलेपन और इतनी जल्दी ज्ञान देने के वादे से भी हनूमान सशंक न हुए। अस्तु। एक अप्सरा जो शाप से मकरी बनी हुई तालाब में रहती थी उसका शाप हनूमान के चरण-स्पर्श से दूर हो गया और उसने हज़रत की सारी क़लई खोल दी। हनुमान जी मसख़रे तो थे ही तनिक इशारे से सब समझ गए और लौट कर बनी हुई गंभीरता से बोले—

कह कपि मुनि गुरुदक्षिणा लेहू, पाछे हमहिं मंत्र तुम देहू।

यह गुरुदक्षिणा का मज़ाक़, ख़ास कर उसके पहले ही दिए

जाने का प्रस्ताव बड़े ग़ज़ब का है। और देखिए, गुरुदक्षिणा क्या देते हैं—

सिर लंगूर लपेटि पछारा।

झा महोदय ने करुण-रस के नाटक में हास्य-रस की घटनाओं के प्रयोग के संबंध में शेक्सपियर की प्रशंसा की है जिसके निमित्त हम अपने कुछ विचार पहले प्रगट कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना अलम् है कि उपर्युक्त दृश्य भी इस कला की एक सुन्दर मिसाल है। हमने इस प्रकरण में यह देख लिया कि समस्त संसार में हास्य-रस के जितने भी सिद्धान्त निकाले गए हैं वे सब रामचरितमानस में मौजूद हैं, बल्कि सच पूछिए तो उससे भी अधिक सामग्री मिली है। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, क्योंकि कविता एवं भाषा पहले बनती है और फिर अधिकतर उसी से पिंगल और व्याकरण आदि के सिद्धान्त भी खोज निकाले जाते हैं।

(३)

हास्य की क़िस्में

(क) प्रभाव के दृष्टि कोण से

प्रभाव के दृष्टिकोण से हास्य के चार भाग किए गए हैं जो उदाहरण सहित नीचे दिए जाते हैं :—

(१) कोमल—कोमल हास्य वह है जो हृदय में गुदगुदी पैदा करे और जिसकी हँसी उड़ाई जाय वह भी अप्रसन्न न हो और न दूसरों के दिलों में ही उसके प्रति घृणा-भाव उत्पन्न हो, जैसे विष्णु का यह व्यंग कि—

वर लायक बरात नहिं भाई, हँसी करैहौ पर पुर जाई।

देवियों का मज़ाक कि 'वर लायक दुलहिन जग नाहीं', सीता जी के साथ सखियों की हँसी—

वहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप किशोर देखि किन लेहू।

या

पुनि आउव यहि वेरिया काली, अस कहि विहँसि चली इक आली।

(२) उदासीन—जिसमें वहुत घुमा कर प्रभाव डाला जाता है। साधारणतः जिसका मखौल उड़ाया जाता है उस पर वार का होना मालूम नहीं होता। जैसे लक्ष्मण का यह कहना—

वहु धनुहीं तोरेउँ लरिकाईं, कवहुँ न अस रिस कीन्ह गुसाईं।

प्रगटतः परशुराम का वड़ा आदर किया गया है और दोष अपना ही वताया गया है। देखने में यदि कुछ अपमान है तो धनुष का जिसे 'धनुहीं' कहा गया है, पर वस्तुतः घुमाकर यह भाव प्रगट किया गया है कि परशुराम का क्रोध असामयिक है।

श्रीवास्तव जी यह ठीक कहते हैं कि यहाँ प्रभाव चुटकी लेने का सा होता है।

(३) कठोर वह है जिसे हम कटाक्ष (Sarcasm or Irony) कह सकते हैं। श्रीवास्तव जी ठीक कहते हैं कि यहाँ प्रभाव सुई चुभोने का सा होता है और अङ्गरेज़ी में भी उसे Pin-pricks ही कहते हैं। जैसे—

टूट चाप नहिं जुरै रिसाने, वैठिय होइहैं पायँ पिराने।

(४) निर्दय—जिसका प्रभाव वर्छी चुभोने का सा होता है; यह हास्यरस का 'सीमाप्रान्त' है। तनिक असावधानी हुई कि सीमा का उल्लंघन हुआ। यहीं हँसी से निरहँस होने का भय रहता है। जैसे जव लक्ष्मण ने परशुराम जी से यह कहा कि—

मिले न कतहुँ सुभट रन गाढ़े, द्विज देवता घरहि के वाढ़े।

तव सव लोग ठीक ही चिल्ला उठे कि 'अनुचित है, अनुचित!' परन्तु यह वात निम्न उदाहरणों में नहीं है—

मूंदिय आँख कतहुँ कोउ नाहीं
या

आपन मुख तुम आपन करनी, बार अनेक भाँति बहु वरणी।
नहिं संतोष तो पुनि कछु कहहू, जनिरिस रोकि दुसह दुख सहहू।

यह याद रखना चाहिए कि पहले और दूसरे भाग का अंतर बहुत ही सूक्ष्म है और वैसा ही तीसरे और चौथे भाग का भी।

मैंने केवल उदाहरण की रीति पर कुछ नमूने रामायण से दे दिये, अन्यथा एक एक के कितने ही उदाहरण वहाँ मौजूद हैं।

(ख) स्वभाव के दृष्टिकोण से

अर्थात् जिसपर हम हँसते हैं उसके स्वभावानुसार हास्य-रस की क़िस्में निम्नलिखित हैं।

श्रीवास्तव जी ने एक और विभाग किया है अज्ञात-हास्य और ज्ञात-हास्य, और सभी निम्न भागों को पहले के अन्तर्गत माना है जिसमें हास्य-चरित को अपने दोषों की ख़बर नहीं होती। परन्तु यहाँ मेरा सविनय मतभेद है जैसा की मेरी टिप्पणियों से ज्ञात होता चलेगा। याद रहे कि यही विभाग हास्य-चरितों के भी आप ही आप हो जाते हैं।

(१) वौड़म—इसकी एक वड़ी ही अच्छी मिसाल पहले दी जाती है, पर यह याद रहे कि कभी-कभी हास्य-चरित किसी भाव से अति प्रभावित होकर वौड़म बन जाता है, चाहे वह स्वभावतः वैसा न हो।

एक भक्त-ऋषि को भगवान के आने की ख़बर मिलती है। वह प्रेमोन्माद और राम-मिलन की आशा में इतना मग्न हो जाता है कि कवि उसका चित्र यों खींचता है—

निर्भर प्रेम मगन मुनि जानी, कहि न जाइ सो दसा भवानी।
दिसि अरु विदिसि पंथ नहिं सूझा, को मैं कहाँ चलेउँ नहि बूझा।
कवहुँक फिर पाछे पुनि जाई, कवहुँक नृत्य करै गुन गाई।

कौन है जो इस चित्र को मुसकराते हुए न पढ़े और इस अलौकिक प्रेम से प्रभावित न हो? फ़िल्म-कला की तो वह जान ही है। गीता में भी ऐसे अनन्य भक्त को 'मूढ़' ही कहा है पर हम तो यही कहेंगे कि धन्य हैं ऐसे बौड़म और मूढ़!

दूसरी मिसाल वही है,

'वर बौराह बसह असवारा',

जिसकी व्याख्या पहले हो चुकी है और यह भी बताया जा चुका है कि शिव जी में उपहास-भाव इतना स्पष्ट था कि उन्हें स्वयं अपने अशिव-वेष के हास्यप्रद प्रभाव का पूरा ज्ञान था। कवि ने लिखा है :—

मनही मन महेश मुसुकाहीं, हरि के व्यंग वचन नहिं जाहीं।

तीसरी मिसाल और भी सुन्दर है। राम जी लंका-युद्ध में विजय पा चुके हैं और अब विजयी वानरों के साथ तनिक कौतुक करना चाहते हैं—

वहुरि विभीषण भवन सिधाये, भरि मणि वसन विमान मँगाये।
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा, हँसि करि कृपा सिंधु तब भाषा।
चढ़ि विमान सुनु सखा विभीषण, गगन जाइ वर्षहु पट भूषण।

... ...

जो जेहिं मन भावै सो लेहीं, मणि मुख मेलि डारि कपि देहीं।
हँसे राम सिय अनुज समेता, परम कौतुकी कृपा निकेता।

कपि-बौड़मपन का कितना सुन्दर दृश्य है जिसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। धन्य हैं बौड़म कपिगण, जिन्होंने सीता जी को भी घोर दुःख-सहन के पश्चात् इस समय हँसा दिया!

(२) उजड्ड—निरे उजड्डपन में हास्य-रस की सामग्री उतनी नहीं होती जितनी उस उजड्डपन में जो थोड़े समय के लिए निर्लज्जता, क्रोध आदि से उत्पन्न हो जाता है।

धनुपयज्ञ में नृपगण किस उजड्डता से अपना क्रोध प्रगट करते हैं। कवि लिखता है—

उठि-उठि पहिरि सनाह अभागे, जहँ तहँ गाल वजावन लागे।
लेहु छँड़ाइ सीय कह कोऊ, धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ।
तोरे धनुप चाँड़ नहिं सरई, जीवत हमहिं कुँवरि को वरई।
जो विदेह कछु करै सहाई, जीतहु समर सहित दोउ भाई।

मुँह से अनायास ही निकल जाता है, "लेना लपक के!" कवि ने भी इसीलिए उन राजाओं को "कूर, कपूत, मूढ़ और अभागा।" ही कहा है और स्वयं दूसरे भले राजाओं के मुख से आलोचना भी करा दी है। जैसे :—

... ..., राज समाजहिं लाज लजानी।
वल प्रताप वीरता वड़ाई, नाक पिनाकहिं संग सिधाई।
सोइ वीरता कि अव कहुँ पाई, अस वुधि तौ विधि मुँह मसिलाई।

आदि आदि।

परशुराम जी के उजड्डपन की तो इतनी व्याख्या हो चुकी है कि संकेतमात्र ही अलम् होगा।

स्वाभाविक उजड्डपन का उदाहरण भी निपादों की उछल-कूद आदि में दिया जा चुका है।

(३) वक्की—आवश्यकता से अधिक वकवास पर भी हमें हँसी आ जाती है। परशुराम जी की डींगों के उदाहरण वहुत दिए जा चुके हैं अतः कवि ने लक्ष्मण द्वारा वर्छी चुभोने वाली चुटकियों के साथ उनकी व्याख्या कराई है, जैसे :—

आपन मुख तुम आपन करनी, बार अनेक भाँति बहु बरनी।

(यही तो बकवास है)

दूसरी मिसाल इससे भी बढ़िया है। रावण ने अपनी 'कैलाश' उठाने वाली कथा को कई बार बड़ी डींग के साथ अंगद को सुनाया और इसी प्रकार अपने शिरों को काट कर आहुति देने का भी वर्णन किया। क्योंकि हम व्याख्या आगे करेंगे अतः यहाँ संकेत मात्र किया जाता है। प्रत्युत्तर में अंगद की चोट देखिए :—

लाजवंत तव सहज सुभाऊ, निज गुण निज मुख कहसि न काऊ।
सिर अरु सैल कथा चित रही, तातें बार बीस तैं कही।
बाजीगर कहँ कहिय न बीरा, काटै निज कर सकल सरीरा।

जरहिं पतंग विमोह बस भार बहहिं खर वृन्द।
ते नहिं सूर कहावहीं समुझ देखि मति मन्द।

(४) घमंडी इसके उदाहरण नारद, परशुराम और रावण में बहुत स्पष्ट हैं। तत्सम्बन्धी व्याख्या बहुत की जा चुकी है और आगे भी की जायगी; इसीलिए यहाँ केवल संकेत किया जाता है।

(५) सनकी—इसमें और बौड़म में अन्तर यह है कि दूसरे में मूढ़ता अधिक होती है परन्तु सनकी चरितनायक किसी एक ख़याल की सनक में साधारणता की सीमा से बाहर निकल जाता है और हम हँस पड़ते हैं।

शिव जी स्वयं ज्ञात-सनकी के एक उत्तम उदाहरण हैं। तप एवं त्याग की सनक में क्या सूरत बना रखी है—भभूत रमाये, शेर की खाल पहिने, मुंडमाल तथा साँप-बिच्छू के आभूषण धारण किए एक 'मजनूं' से बने फिरते हैं।

भक्ति की सनक का उदाहरण भी पहले आ चुका है जिसमें एक फ़क़ीर की निमग्नता और उतावली का चित्र खींचा गया है।

राम और सीता भी कभी-कभी सनकी हो गए हैं। कवि ने उन्हें भी कोमल हास्य का पात्र बना ही दिया है। प्रेम की निमग्नता में राम की मनोहर मूर्ति हृदय में रखकर सीता जी—

'दीन्हें पलक कपाट सयानी' हो रही हैं।

सखियाँ राम का शिख-नख वर्णन प्रारम्भ करती हैं और यह उद्योग करती हैं कि राजकुमारों के देखने की लालच में आँखें खोल दें। परन्तु प्रेम की सनक सीता को आन्तरिक चित्र की रूप-रेखा की पूर्ति में लगाए हुए है जिसे उपर्युक्त वर्णन से सहायता मिल रही है। एक चतुर सखी ने जब और कोई उपाय न देखा तो कितनी सुन्दर हँसी की—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप किशोर देख किन लेहू।

सीता ने संकोच वश तुरन्त नेत्र खोल दिए।

राम जी की सनक की भी एक सुन्दर मिसाल लीजिए। सवेरे सीता को जनक की वाटिका में देख, उनके सौन्दर्य पर मोहित हो गये थे। शाम को चन्द्रमा निकला तो प्रेम की सनक में मानो उसी से लड़ चले। उसके कितने ही दोष निकाले और अन्त में यहाँ तक कह डाला कि—

अवगुण बहुत चन्द्रमा तोही।

यह भी गनीमत था, पर दूसरे दिन सवेरा होते ही सूर्य को देख उसी सनक में उसकी तुलना भी सीता से कर चले। कवि के शब्दों में:—

बिगत निसा रघुनायक जागे, बन्धु बिलोकि कहन अस लागे।
उदउ अरुन अवलोकहु ताता, पंकज कोक लोक सुख दाता।

पूरा प्रकरण बड़ा ही सुन्दर है और हमने फुलवारी-लीला वाली व्याख्या में इसका विशेष वर्णन किया है। यहाँ सिर्फ इतना कहना है कि प्रेम सनक की कोमल छवि राम जी को सीता-छवि से कुछ

मिलती जान पड़ी और इसीलिये यहाँ चन्द्रमा वाले अनेक दोषों का विरोध मिला। लक्ष्मण जी इस सनक को ताड़ गए परन्तु हाथ जोड़ कर नम्रता से मानो यह कहा कि अरुण पुंल्लिंग तथा वीर-रस सूचक है आपका ख़याल किधर जा रहा है? साथ ही यह भी चाहते हैं कि राम के हृदय में आशा का उदय हो जाय और कहीं ऐसा न हो कि प्रमोन्माद में उनकी वीरता जाती रहे अतः—

बोले लषन जोरि जुग पानी, प्रभु प्रभाव सूचक मृदु वानी।

अरुणोदय सकुचे कुमुद उडुगण ज्योति मलीन,
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन।

नृप सब नखत करहिं उजियारी, टारि न सकहि चाप तम भारी।
कमल कोक मधुकर खग नाना, हर्षे सकल निशा अवसाना।
ऐसेहि प्रभु सब भक्त तुम्हारे, होइहैं टूटे धनुष सुखारे।
उये भानु बिनु श्रम तम नाशा, दुरे नखत जग तेज प्रकाशा।
तव भुज बल महिमा उदघाटी, प्रगटी धनु विघटन परिपाटी।

मुँह से एक दम निकल जाता है कि—'हरकस व ख़याल ख़ेश ख़ब्ते दारद' अर्थात् 'कोऊ काहू में मगन कोऊ काहू में मगन'। राम प्रेम में मग्न और लक्ष्मण वीर-रस में! परन्तु राम में उपहास-भाव इतना सुन्दर है कि उन्हें अपने ऊपर ख़ुद हँसी आ गई :—

'बन्धु वचन सुनि प्रभु मुसुकाने।'

संस्कृत के विद्वानों को और भी आनन्द आएगा यदि वे सोचेंगे कि संस्कृत कवि इसी नये अरुण को उषा रूप में दिखाते हैं जिसका साक्षात एक लाल रंग की ओढ़नी वाली सुन्दर कुमारी में होता है—यहाँ तक कि वेद में भी प्रकरण के प्रकरण उन उपमाओं तथा रूपकों से भरे हुये हैं जिनमें आधिदैविक एवं आध्यात्मिक विषयों का वर्णन उषा द्वारा हुआ है। राम जी वशिष्ठ और विश्वामित्र की शिक्षाओं के बाद ही जनकपुर गए हैं और संस्कृत के वही

प्रसंग उनके मस्तिष्क में भरे हुए हैं। अतः वे अपनी धुन में भूल गए कि 'अरुण' हिंदी में पुंल्लिङ्ग है। देखिए, कहीं यह असाहित्यिक प्रश्न न कर बैठिएगा कि राम जी की भाषा संस्कृत थी। कारण, जिस भाषा में जो कवि लिखता है उसके चरित्रों की भी वही भाषा माननी पड़ती है, नहीं तो सारा मज़ा ही जाता रहे। इस दृष्टिकोण से इस प्रसंग में हास्य-रस का वही आनन्द आ जाता है जो श्रीवास्तव जी ने एक संस्कृतज्ञ से 'शर्म से पानी-पानी हो गया' के स्थान में 'शर्म से जल-जल हो गया' कहला कर पैदा किया है।

झेंपू —'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू' वाली हँसी के बाद कवि ने स्वयं लिखा है कि 'सकुच सीय तव नैन उघारे'। यह 'सकोच' 'झेंप' का रूपान्तर ही है। लक्ष्मण के वीर-रस वाले उपर्युक्त रूपक के बाद राम जी भी तनिक झेंप कर ही अपने ऊपर मुस्कुराए हैं।

अब रावण के झेंपों के उदाहरण लीजिए। अङ्गद कहते हैं :—

अङ्गद नाम बालि कर बेटा, तासों कबहुँ भई होइ भेंटा।

दूसरे चरण के संकेत को समझ कर रावण झेंप गया पर उस झेंप को मिटाते हुए किस मजे से कहता है :—

अङ्गद वचन सुनत सकुचाना, रहा बालि बानर मैं जाना।

इससे भी फड़कती हुई मिसाल वह है जब रावण अङ्गद का पैर उठाने चला है। अङ्गद कहते हैं :—

गहत चरन कह बालि कुमारा. मम पद गहे न तोर उबारा।
गहसि न राम चरन सठ जाई, सुनत फिरा मन अति सकुचाई।

महाकाव्य के दृष्टिकोण से मामला हँसी में टल गया और यह पता न चला कि अङ्गद अधिक बलवान था या रावण। अङ्गद की

लाज भी रह गई और आगामी राम-रावण संग्राम का आनन्द भी न गया। रावण की झेंप की अधिक व्याख्या करते हुए कवि लिखता है :—

भयउ तेजहत श्री सब गई, मध्य दिवस जिमि शशि सोहई।
सिंहासन बैठेउ सिर नाई मानहु संपति सकल गँवाई।

मैंने वही चरितनायक यहाँ लिये हैं जिनका वर्णन श्रीवास्तव जी ने किया है। बात तो यह है कि हर ऐब को उभार कर हास्य उत्पन्न किया जा सकता है जिसके उदाहरण रामायण में कहीं न कहीं मिल ही जायँगे।

मैंने पहले ही सविनय विरोध करते हुए लिखा है कि मैं श्री-वास्तव जी के इस मत को नहीं मानता कि ये सारो किस्मैं अज्ञात-हास्य की ही हैं, और यहाँ यह भी कह देना चाहता हूँ कि हास्य-चरित का सदा चिड़चिड़ा होना भी ज़रूरी नहीं है। नारद और रावण अवश्य चिड़चिड़े हो गए हैं पर कितने ही उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ चिड़चिड़ेपन का पता नहीं है जैसे शिव जी में और राम जी में।

श्रीवास्तव जी ने हास्य को 'उपहास' और 'परिहास' में ठीक ही विभाजित किया है परन्तु यहाँ फिर एक विषय में मेरा उनसे सविनय मत-भेद है। वे 'परिहास' उसे कहते हैं जिसमें हम अपने ऊपर हँसें और 'उपहास' उसे जब दूसरे पर हँसा जाय। तुलसी-दास जी (जो हास्य-कला के बड़े ही मर्मज्ञ हैं) का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत ही जान पड़ता है। वे परिहास उसे कहते हैं जिसमें हम दूसरे का मख़ौल उड़ावें। जैसे दशरथ जी कैकेई से कहते हैं कि यदि तू ने मज़ाक उड़ाने के लिये 'परिहास' किया हो तो साफ़ बता दे, मैं हारा। परन्तु भगवान राम के प्रगट होने पर कौशल्या जी को अपने पर ही हँसी आती है तो वह 'उपहास' का ही प्रयोग कर कहती हैं कि :—

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै, ।
मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ।

मेरी समझ में कवि की ही नामावली ठीक है और हम भी Farce को हिंदी में 'प्रहसन' ही कहते हैं। तुलसीदास के परिहास की (श्रीवास्तव जी के शब्दों में) ये क़िस्में हैं—विनोद, व्यंग और कटाक्ष। 'विनोद' वही है जिसे हमने 'व्यंग' कहा है और 'व्यंग' को 'शाब्दिक व्यंग' कहा है। यह प्रश्न केवल शब्दों का है पर बात एक ही है। हाँ, हमारी नामावली में गुणों का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है और नामावली आँग्ल-भाषा के हास्य-मर्मज्ञों की नामावली से मिल जाती है—अर्थात, Humour, Wit and Sarcasm से। तुलसीदास ने भी शिव जी के मुँह से—

हरि के व्यंग वचन नहिं जाहीं

में 'व्यंग' का शब्द ही प्रयुक्त कराया है, 'विनोद' का नहीं।

(ख) हास्य-रस के विषय में भ्रम ।

श्रीवास्तव जी लिखते हैं कि हास्य में मस्तिष्क की आवश्यकता है। उनका ख़याल यह भी है कि हिंदी काव्य में हास्य-रस की कमी इस कारण है कि वहाँ भावुकता और पंडिताई की पुकार है। मुझे केवल दो बातों की ओर ध्यान दिलाना है। पहली यह कि हास्य में भी मस्तिष्क हृदय द्वारा काम करता है, क्योंकि हृदय पर प्रभाव पड़े बिना हँसी नहीं आती। दूसरे यह कि हास्य-रस की कमी का कारण मुझे यह प्रतीत होता है कि जिन हज़ार वर्षों में हिंदी-भाषा का विकास हुआ वे हमारी ग़ुलामी के हज़ार वर्ष रहे हैं। हमारे उस हज़ार वर्ष के इतिहास में लड़ाई, झगड़े, परेशानी और उनसे छुटकारे के प्रयत्न ही प्रधान रहे। तात्कालिक सामाजिक स्थिति में न हमें हँसने का अवकाश मिला और न समय। इसीलिये हमारे काव्य में या तो वीर और रौद्र रस प्रधान रहे या करुण-रस। भक्तों

ने सारी कठिनाइयों से अलग रह कर भगवान की शरण ली तो वहाँ शान्त-रस प्रधान हुआ। सच है कि दुःख में राम बहुत याद आते हैं। किसी ने ख़ूब कहा है—

दुख में राम सब कोइ कहे सुख में कहै न कोय।

परन्तु जब भी कुछ अवकाश मिला तो शृङ्गार एवं हास्य रसों ने कुछ न कुछ चमत्कार दिखाया ही। विहारी और तुलसी इसकी अनोखी मिसालें हैं। हाँ, परिस्थिति से विवश होकर बेचारे हास्य-रस को अधिक अवकाश न मिला।

हाँ तुलसीदास जी की विचित्रता यह है कि उन्होंने शृङ्गार और हास्य को महाकाव्य के भीतर भी इस सुन्दरता से निभा दिया है कि न तो महाकाव्य की गम्भीरता में बट्टा लगा और न उनकी कविता मिल्टन और स्पेन्सर (Spencer) की कविता सी रूखी रह गई। सच है, यदि ईश्वर आनन्द का भण्डार है तो हमारी कठिनाइयों में भी कभी-न-कभी हँसी का अवसर दे ही देता है। तुलसीदास का ईश्वर या उनके स्वर्गनिवासी लोग केवल लंबे मुखों वाले व्यक्ति नहीं, जिनका मख़ौल बर्नार्डशा ने उड़ाया है। उनके राम के मुख पर सदा ही मन्द मुस्कान मौजूद है।

श्रीवास्तव जी कहते हैं कि हास्य-रस सुधारक है, उपदेशक नहीं, परन्तु हम पाठकों को चेतावनी देते हैं कि वे इसका बहुत संकुचित अर्थ न लें और यह न ख़याल करें कि हास्य-रस केवल मख़ौल उड़ाकर रह जाता है और हमें कोई शिक्षा नहीं देता। मुझे तो आँग्ल-भाषा की यह जन-श्रुति ठीक जान पड़ती है कि 'बुराई को हँस कर उड़ा दो' (Laugh away the evil)। हाँ, एक बात अवश्य है कि हास्य-रस का उपदेश केवल तार्किक नहीं होता जिसका प्रभाव मस्तिष्क तक ही रह जाय, बल्कि वह दिल में ऐसी गुदगुदी पैदा कर देता है कि बात हमेशा याद रहे और हमें हँसी-खुशी के साथ शिक्षा मिल जाय।

तीसरा भ्रम इस कारण उत्पन्न हुआ है कि पश्चिमी साहित्य-जगत ने हास्य-चरित को एक पृथक वस्तु बना दिया है। हमने हास्य-रस की पुस्तक उठाई तो यही सोचते रहते हैं कि इसमें हमें कहीं भी सौन्दर्य या सुडौलपन न मिलेगा और हास्य-चरित सदा-सर्वदा हमारे मखौल ही की चीज होगी। इसी कारण वहाँ हास्य-रस से शिक्षा की आशा नहीं होती। हमारी उपर्युक्त व्याख्या से यह भली प्रकार ज्ञात हो गया होगा कि तुलसी के सिद्धान्त इसके प्रतिकूल हैं और उनकी काव्य-कला में हास्य-रस को आध्यात्मिक उत्थान तक में लाया गया है। किसी व्यक्ति को सदा-सर्वदा ही हास्य-पात्र नहीं बनाया गया। प्रकृति और मानवी स्वभाव भी तुलसी की ही ओर हैं।

चौथा भ्रम इस कारण है कि हास्य-पात्र के साथ सहानुभूति तथा आदर सूचक भावों का अभाव माना जाता है। तुलसी की कला में सदा-सर्वदा ही ऐसा नहीं है। बहुधा तो हमारी सहानुभूति बनी ही रहती है। हाँ, रावण और परशुराम के प्रति हमारी सहानुभूति कभी-कभी अवश्य नहीं होती, पर वहाँ हास्य-रस के प्रति हमारा आदर बना ही रहता है और हम यह सोच कर खुश होते हैं कि अच्छी 'कुंदी' की गई।

(ग) कला का प्रयोग

हम यह देख ही चुके हैं कि हास्य-रस का कुशल कलाकार इस रस का प्रयोग हमारे सुधार तथा उपदेश के लिए किस सुन्दरता से करता है। हम दूसरे का दोष और उसका मखौल देखकर सतर्क हो जाते हैं कि कहीं हम भी उसी चक्कर में न पड़ जायँ। अब हमें श्रीवास्तव जी के डाले हुए प्रकाश की सहायता से यह देखना है कि कलाकार किन साधनों से हास्य उत्पन्न करता है।

(१) घटनायें—यों तो हास्य-रस के उभार के लिए अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता सदा ही रहती है परन्तु विशेष आनन्द जब आता है कि परिस्थितियाँ ही हास्य पैदा कर दें, चाहे हँसी उड़ाने वाले का इरादा वैसा न हो और न उसका ही जिसकी हँसी उड़ाई जाय। इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण रामजी के सुरसरि पार करने का प्रसंग और केवट की वार्ता है। क्योंकि हम इस प्रसङ्ग की पूरी व्याख्या आगे करेंगे अतः यहाँ संकेतरूप में ही कुछ कहा जायगा। राम को सुरसरि पार करना जरूरी है और वह भी मनुष्य-रूप में। तीन पैर में तीनों लोक नाप लेने वाली शक्ति का प्रयोग इस समय नहीं हो सकता। जैसा रूप है वैसा ही नाच नाचना है। बेचारे केवट को कहीं खबर मिल चुकी है कि रामजी के पैर छू लेने से एक शिला स्त्री हो गई। उसके दिमाग में इतनी ताक़त कहाँ कि वह सारे भेदों को समझ सके? उसे तो यही भ्रम है कि यदि कहीं मेरी नाव राम के चरण-स्पर्श से उड़ गई तो जीविका चली जायगी। वह कहता है :—

चरन कमल रज कहँ सब कहई, मानुष करन मूरि कछु अहई।

कवि ने कितना स्पष्ट बता दिया है कि बेचारा केवट रहस्य को नहीं समझ रहा। हमें तो उसकी सिधाई पर भी मुस्कराहट आ ही जाती है।

छुवतसिला भै नारि सुहाई, पाहन ते न काठ कठिनाई।
तरनिहु मुनि घरिनी होइ जाई, बाट परै मोरि नाव उड़ाई।

कितना सुन्दर तर्क है और 'बाट परै' से केवट यह दिखाना चाहता है कि इसमें केवल मेरा ही स्वार्थ नहीं, बल्कि सब का मार्ग बन्द हो जायगा।

यहि प्रतिपालहुँ सब परिवारू, नहिं जानहुँ कछु और कबारू।
जो प्रभु पार अवसि जा चहहू, मोहिं पद पद्म पखारन कहहू।

इत्यादि।

प्रगट है कि केवट जो कुछ कह रहा है, अपनी सरलता से, और उसकी हठ वास्तविक भाव से है। पर राम ऐसे विवश हैं कि कोई और उपाय ही नहीं। हाँ, उनमें उपहास-भाव इतना प्रधान है कि वह इस परिस्थिति-व्यङ्ग को समझ गए और किस मज़े से कहते हैं :—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना ऐन चितै जानकी लषन तनु।
कृपासिंधु बोले मुसुकाई, सोइ करु जेहि तव नाव न जाई।

दूसरी मिसाल वह है जब राम जी समुद्र के सामने हाथ जोड़े बैठे हैं और उससे राह माँगते हैं। इस परिस्थिति से लक्ष्मण अप्रसन्न हुए और उनमें वीर-रस की उत्तेजना हो गई। वह राम के प्रति कठोर कटाक्ष से भी नहीं रुके और यहाँ तक कह डाला कि—

कादर मन कर एक सहारा, दैव दैव आलसी पुकारा।

परन्तु वाहरे भगवान राम, उनमें उपहास-भाव इतना है कि बिगड़े नहीं अपितु लक्ष्मण को सान्त्वना देते यही कहा कि तनिक ठहरो, जो तुम चाहते हो वही होगा। हाँ, इस परिस्थिति की सूचना पाकर रावण को अवश्य हँसी का मौक़ा मिल गया और उसने ख़ूब कहा कि—

सागर सन ठानी मचलाई।

और विभीषण को भी शामिल करते हुए बड़े हास्य-प्रद शब्दों में मानो यही कहा कि जैसा मंत्री वैसा राजा।

हमारे प्रसङ्ग से बाहर की बात है अतः अधिक व्याख्या न करते हुए इतना संकेत अवश्य कर देंगे कि राजनीतिक दृष्टिकोण से यह राम की प्रारम्भिक नैतिक नम्रता बड़ा ही अच्छा आदर्श पेश करती है। गत योरपीय महासमर में बेल्जियम की सीमा-भंग वाली घटना

और उस घटना का विरोध विचारणीय है। लक्ष्मण और रावण दोनों की आलोचनायें एकदेशीय थीं। राम का आदर्श था " सत्य शील दृढ़ ", लक्ष्मण थे केवल सत्य के उपासक और शील वाले भाग को समझ न सके और रावण भी इस शील की परिस्थिति को कायरता ही समझा।

(२) शब्द—शब्दों के प्रयोग से हास्य उत्पन्न करना तो बहुत ही प्रचलित है। हमने अभी देखा है कि केवट के 'प्रेम लपेटे अटपटे' शब्दों पर राम को हँसी आ ही गई। परशुराम के कठोर शब्दों की आलोचना करते हुए लक्ष्मण ने कितना सुन्दर मज़ाक़ किया है कि आप बोलते क्या हैं, फूल झड़ते हैं। यदि प्रथम उदाहरण में बेतुकापन है तो दूसरे में हास्यकार ने वास्तविकता के प्रतिकूल कोमलता के व्यवहार से हास्य पैदा कर दिया है। अंगद-रावण वाले संवाद में तो कवि ने स्वयं ही वक्रोक्ति का प्रयोग दिखाया है। कभी-कभी ठेठ शब्दों के प्रयोग से भी हास्य उत्पन्न कर दिया जाता है, जैसे निषादों के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि—

सुमिरि राम पद पंकज पनहीं,
भाथा बाँधि चढ़ावहिं धनुहीं।

किसी व्यक्ति के किन्हीं शब्दों के बारम्बार प्रयोग से भी हास्य उत्पन्न किया जाता है जैसे परशुराम के बारम्बार फरसे का ज़िक्र करने और उसे दिखाने से।

(३) चरित्र—इसके सम्बन्ध में इतना लिखा जा चुका है कि अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। हाँ, इतना कहना आवश्यक है कि तुलसीदास जी किसी चरित्र को सिर से पैर तक या हर समय के लिये हास्य-प्रद नहीं बनाते। उनका सिद्धान्त यह है कि किसी विशेष दोष के उभार से विशेष समय पर विशेष परिस्थितियों में पड़ कर प्रत्येक चरित्र हास्य-प्रद हो सकता है।

उन्होंने किसी कृत्रिम व्यवसाय वाले विदूषक को स्थान नहीं दिया जो रङ्ग-रङ्ग के कपड़े पहिने और लम्बी बेढङ्गी टोपी (Fool's cap) लगाए हुए रङ्ग मंच पर कूद-कूद कर हमें मौक़ा बेमौक़ा हँसाए। सच है, ऐसे कृत्रिम हास्य-रस से कोई शिक्षा नहीं मिल सकती वल्कि कभी-कभी उसके प्रयोग से घटना-क्रम में भी रंग-भंग की वात हो जाती है।

झा महोदय ने वड़े-वड़े हास्याचार्यों की वातों के आधार पर और भी कितने ही हास्य-प्रयोगों का ज़िक्र किया है। जैसे ग़लत शब्दों के प्रयोग से या दूसरे के शब्दों को विगाड़ कर कहने से। लक्ष्मण ने शिव-धनुष के लिये 'धनुहीं' शब्द का प्रयोग किया और हम हँस पड़े। राम ने सूर्पनखा से 'अहै कुमार मोर लघु भ्राता' वाले दुभाषी वाक्य कहे और हमें हँसी आ गई। दूसरे के शब्दों को विगाड़ कर कहने का सब से सुन्दर वह उदाहरण है जिसमें हनूमान जी ने कालनेम से गुरुदीक्षा लेने के प्रस्ताव के उत्तर में गुरुदक्षिणा देने वाली वात कही है। दूसरा फड़कता हुआ उदाहरण लक्ष्मण का है जिसमें उन्होंने परशुराम जी के।

गुरुहिं उरिन होतेउँ स्रम थोरे

वाली वात का उत्तर देते हुए ऋण की शृङ्खला को बड़ी ही हास्य-जनक रीति पर वढ़ा दिया था।

(४) वेतुकी प्रगतियों—से भी हास्य उत्पन्न होता है जिसके वड़े सुन्दर उदाहरण धनुप-यज्ञ में राजाओं के "तमकि ताकि तकि तकि धनु धरहीं" तथा निपादों की वार्ता में आ चुके हैं। सूर्पनखा का वहुत मुस्कराना और परशुराम का वार-वार फरसा घुमाना भी इसी के उदाहरण हैं।

इसी प्रयोग का दूसरा पहलू वह है जिसमें दूसरे की त्रुटि पर हास्य-प्रद आलोचना से हँसी आती है और जिसके अनेक उदाहरण हो चुके हैं।

(५) अतिरंजित चित्र—(Caricature) किसी व्यक्ति या घटना का अतिरंजित चित्रण भी हास्य उत्पन्न करता है। श्रीवास्तव जी ने उसे विशेषतः चित्रकारी का ही अंश माना है जो ठीक भी है, परन्तु महाकवि तुलसी ने इस कला का प्रयोग भी बड़ी सुन्दरता से अपने काव्य में किया है। 'शिव समाज' के चित्रण और 'नारद मोह' के प्रसंग में उसका अच्छा प्रयोग हुआ है। परशुराम का जरूरत से ज्यादा गुस्सा होने और लक्ष्मण की बनावटी नम्रता में भी उसी का प्रयोग है। जब रावण सीताहरण के लिये पंचवटी के पास पहुँचता है और भिक्षुक का वेष लेता है तो उस समय कवि ने स्वयं लिख दिया है कि—"भँडियाई" करने चला है।

(६) किसी और चीज़ को और समझने में भी हास्य पैदा होता है—जैसे जब हनूमान जी कालनेम को ऋषि समझते हैं तो हमें हँसी आ जाती है। सीता ने कपट-मृग को असली मृग समझा और राम मुस्करा दिए। इसी कला का दूसरा अंग वह है जो कपट के ताड़ जाने से पैदा होता है। जैसे सती जी ने सीता का रूप धारण कर राम को धोखा देना चाहा तो वह ताड़ गए और हँस पड़े।

(७) प्राचीन तथा अव्यवहार्य वस्तुओं से भी हँसी आ जाती है। जैसे वानरों ने किसी वस्त्र को किसी और अंग पर पहिना और मणियों को फल समझ कर पहले मुँह में डाला और फिर उगल दिया तो राम लक्ष्मण और सीता सभी हँस पड़े।

अभी रामायण के ऐसे कितने ही हास्य-प्रसंग शेष हैं जिनका जिक्र उदाहरण के तौर पर भी नहीं हुआ। इसीलिए हमारा विचार है कि वैसे प्रमुख प्रसंगों की व्याख्या आगामी प्रकरण में हो जाय। परन्तु हमने देख लिया कि पूर्वी और पश्चिमी जगत ने हास्य-रस के सम्बन्ध में जितनी भी खोज की है वह सब तुलसी जी की रामायण में मौजूद है। यही नहीं बल्कि तुलसी के हास्य में ऐसी कितनी ही विशेषतायें हैं जो और जगह नहीं मिलतीं। मैंने भी अँगरेज़ी,

उर्दू, फ़ारसी और हिन्दी साहित्य का थोड़ा बहुत अध्ययन किया है। मुझे तो कोई एक पुस्तक ऐसी नहीं मिली जिसमें हास्य-कला के सभी अंशों का प्रयोग इस सुन्दरता से हुआ हो जैसा रामायण में है। सच है, तुलसी की कला में कलाकारी और कारीगरी इस सुन्दरता से मिली हुई हैं कि कृत्रिमता का पता नहीं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है कि तुलसीदास जी एशिया के छः बड़े लेखकों में हैं। हम उनके कृतज्ञ हैं, परन्तु क्या हम उनसे सविनय पूछ नहीं सकते कि आख़िर उन्होंने केवल एशिया का प्रयोग क्यों किया। क्या साहित्य संसार में भी एशिया निवासी पृथक् ही रखे जायँगे? हमें तो यह अनुदारता ही प्रतीत होती है। इस छोटी सी पुस्तक में हमने केवल एक रस पर विचार किया है और देखा है कि तुलसीदास जी संसार के सर्वश्रेष्ठ हास्य-कलाकारों की गणना में रखे जाने के अधिकारी हैं। हमने अपनी अनेक लेखमालाओं में तुलसी जी की कला के और अंगों पर विचार किया है और हमारी तो यह धारणा हो गई है कि संसार में कदाचित ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने अपनी एक कृति में नवों रसों को इस सुन्दरता से रखा हो जैसा हमारे महाकवि ने रामायण में किया है।

(४) रामायण के हास्यप्रद प्रसंगों पर एक विहंगम-दृष्टि

यह तो कठिन है कि रामायण के सभी हास्यप्रद प्रसंगों को एकत्रित कर दिया जाय, क्योंकि लगभग सारे ग्रंथ में कहीं स्पष्ट और कहीं गुप्त रूप में हास्य-रस भरा पड़ा है, हाँ प्रसिद्ध प्रसंगों पर जो अभी तक उदाहरण रूप में भी नहीं आ सके एक विहंगम दृष्टि डालना बहुत ज़रूरी है।

वंदना-प्रसंग—रामायण के शुरू में ही वंदना-प्रसंग में हास्य-रस के व्यंगों और कटाक्षों के बड़े सुन्दर नमूने मौजूद हैं और अनिरंजित चित्र भी बड़े सुन्दर हैं :—

भापा भनित मोर मति भोरी, हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।

रामजन्म-प्रसंग—हम कौशल्या जी के उपहास-भाव का ज़िक्र कर चुके हैं। अब तनिक पालने पर कुलेल करते हुए भगवान राम का परिहास देखिए। कौशल्या ने भगवान की पूजा के लिये पकवान वनाए और उनका नैवेद्य लगाया। ज़रा हटीं तो देखा क्या कि वालरूप भगवान स्वयं पकवान खा रहे हैं। उन्हें भ्रम हुआ और पालने की ओर देखा तो वहाँ भी वालरूप भगवान लेटे हुए हैं। कवि लिखता है—

यहाँ वहाँ दुइ बालक देखा, मति भ्रम मोर कि आन विसेखा।
देखि राम जननी अकुलानी, प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी।

खूब ! खूब ! वहुत खूब !

वाल विनोद—पहले कुछ संकेत हो चुका है, पर कवि की कला में इतना सुन्दर हास्य-माधुर्य है कि कुछ अधिक अवतरण नीचे दिए जाते हैं :—

भोजन करत बोल जब राजा, नहिं आवत तजि वाल-समाजा।
कौसल्या जब वोलन जाई, ठुमुक-ठुमुक प्रभु चलहिं पराई।

... ...

धूसर धूरि भरे तनु आए, भूपति विहँसि गोद बैठाए।
भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ,
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ।

भगवान का गुप्त अवतार—आधिदैविक समस्या ही ऐसी थी कि भगवान राम को अपना अवतार मानवी रूप में लेना और अधिकतर अपने आध्यात्मिक एवं आधिदैविक व्यक्तित्व को गुप्त ही रखना पड़ा। महाकवि तुलसी जैसे कुशल कवि को उसमें दो वड़ी सुन्दर बातें मिल गईं। पहली यह कि उन्होंने महाकाव्य एवं नाटक संबंधी कलाओं का निर्वाह साथ-साथ कर दिया। साधारण

मनुष्यों के साथ राम, सीता आदि का व्यवहार केवल मानवी है और इसी कारण उसमें नाटकीय कला बड़ी सुन्दरता से निभ गई। परन्तु ऋषियों मुनियों तथा जनक जैसे महात्माओं ने उन्हें पहचान लिया। कहीं कहीं तो इन प्रसंगों में गुप्त या प्रगट रीति पर ऐसा मधुर हास्य उत्पन्न किया गया है जैसा हमें उस समय प्रतीत होता है जब हमारा कोई मित्र रूप बदल हमें धोका देने आए और हम उसे पहिचान लें। इस प्रयोग से हम तुलसीदास की दूसरी कला अर्थात् महाकाव्य वाली श्रेणी पर पहुँच जाते हैं और जहाँ प्रगट हास्य है वहाँ कोमल हास्य-रस का आनंद उठाते हैं और जहाँ वह अप्रगट है वहाँ शान्त-रस के माधुर्य का कहना ही क्या। एक अच्छा उदाहरण लीजिए। महाराज जनक अपने कर्म-योगी होने के कारण हमारी सभ्यता में ऐसे महान समझे जाते हैं जिनका नाम भगवान कृष्ण ने भी गीता में बड़े आदर से लिया है। ऐसे महान व्यक्ति का आत्मा स्वयं दिशा सूचक यंत्र का काम करता है और राम-लक्ष्मण को देखते ही उनका आधिदैविक व्यक्तित्व पहिचान लेता है। उन्हें विश्वामित्र जी के साथ देखकर जनक जी उन्हीं से कहते हैं :—

कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक, मुनि कुल तिलक कि नृपकुल पालक।
ब्रह्म जु निगम नेति कहि गावा, उभय वेष धरि की सोइ आवा।
सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होइ जिमि चंद्र चकोरा।
ताते प्रभु पूछहुँ सति भाऊ, कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ।
इनहिं विलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।

दिशा सूचक-यंत्र की सुई काँप तो अवश्य रही है पर उस दिशा की ओर कितना ठीक इशारा करती है। इसी में शान्त-रस की मधुरता और हास्य की कोमलता है।

कह मुनि विहँसि कह्यो नृप नीका, वचन तुम्हार न होइ अलीका।
ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी, ...

भक्ति प्रसंग में ईश्वरत्व कितने प्रिय रूप में दिखाया गया है। दूसरे चरण में कवि कहता है।

............................., मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।

हास्य-रस कितना सुन्दर और मधुर है! वह लाख परदे में रहें पर प्रेमिक-हृदय खोज ही लेता है और जब इस प्रेम की आँख-मिचौनी में वह पकड़ जाते हैं तो ख़ुद भी हँसते हैं।

किसी कवि ने ख़ूब लिखा है कि—

'भक्त मोहिं बानर नाच नचायो'।

भगवान ने भक्तों की अनेक भावनाओं की पूर्ति के लिये ही अनेक अवतार लिए। हमें तो बार-बार साम वेद का वह मंत्र याद आ जाता है जिसमें ऋषि ने यह लिखा है कि ईश्वर अपनी विभूतियाँ अपने में से भक्तों के भावानुसार उसी तरह प्रगट करता है जैसे किसी नदी से शाखायें और नहरें निकलती हैं। आज हमारे राम और लक्ष्मण जनकपुर के बालकों के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। प्रसंग कितना आनंदमय है, देखिए :—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना, सादर प्रभुहिं दिखावहिं रचना।

सब शिशु यहि मिसु प्रेमवश परसि मनोहर गात,
तनु पुलकित अति हर्ष हिय देखि देखि दोउ भ्रात।

शिशु सब राम प्रेम वश जाने, प्रीति समेत निकेत बखाने।

आज विश्व रचयिता के सामने मानवी गृहों का बखान हो रहा है और वह किस प्रेम और धैर्य से सुन रहा है।

निज निज रुचि सब लेहिं बुलाई, सहित सनेह जाहिं दोउ भाई।

क्या अच्छा कठपुतली पन है! इतना ही नहीं, रूप के अनुसार राम भी लक्ष्मण को दिखा कर रचनाओं का बखान करते हैं। कवि लिखता है—

राम दिखावहिं अनुजहिं रचना, कहि कहि मृदुल मनोहर बचना।

कवि ने इस प्रसंग की आलोचना में खुद कहा है और ख़ूब कहा है :—

तव निमेप मँह भुवन निकाया, रचै जासु अनुशासन माया।
भक्त हेतु सोइ दीन दयाला, चितवत चकित धनुप मखशाला।

आपको इसका पूरा आनंद तब आएगा जब आप अपने उस अनुभव पर विचार करेंगे जो आप को अपने बच्चे या छोटे भाई या वहिन के साथ किसी विद्यालय की प्रदर्शिनी देखने में हुआ होगा। बच्चा बड़े प्रेम से आपको एक तरफ़ पकड़ ले जाता है और कहता है—“ बाबू तनिक देखिए तो, यह कागज़ का मकान कितना अच्छा बना हुआ है। रसोई घर की बटलोई तक कागज़ की बनी हुई है और वह देखो दाल भी पड़ी हुई है !” यदि आप में बच्चे के प्रति सहानुभूति है तो आप इतना अवश्य कहेंगे कि भई ख़ूब बनाया है। पर कहेंगे यह मुस्कुराते हुए। आप कुछ और आगे बढ़े और बच्चे ने आपका हाथ खींचते हुए कहा—“ बाबू ! तुम तो आगे बढ़े जाते हो। मुझे ऐसा लगता है कि तुम जानते ही नहीं। देखो तो मेरे दर्जे के लड़के प्रेम मोहन ने यह कैसी अजीब तसवीर बनाई है कि एक ओर से देखो तो शिव जी की और दूसरी ओर से देखो तो पार्वती जी की !” यदि आप में कुछ भी हास्य-भाव है और साथ ही बच्चे से प्रेम है तो आप भी “चकित” होकर ही देखेंगे और उसे ख़ुश करने के लिये ज़रूर कहेंगे कि “ वाक़ई चित्र अनोखा है, कमाल कर दिया !” ठीक यही हाल

चितवत चकित धनुप मखशाला

में भगवान राम की उदारता का है। सच है, उदार-हास्य दैवी गुण का एक अंश है। जैसे सूर्य-रश्मियों में से वैज्ञानिक सात रंगों का

प्रगटी-करण करते हैं वैसे ही महाकाव्य-कला का मर्मज्ञ दैवत्व में से नवों रसों का प्रगटी-करण करता है, क्योंकि जब भगवान ने अपने एक अंश से सम्पूर्ण विश्व को प्रगट किया है तो रसों का प्रवाह भी तो उसी का एक अंश है। मुझे तो वह महाकाव्य-कला एक देशी जान पड़ती है जो हास्य तथा शृङ्गार को महाकाव्य में नहीं निभा सकती। हाँ, महाकाव्य का हास्य और शृङ्गार आदर्श-पूर्ण होगा, केवल वासनात्मक नहीं।

जनकपुर-भ्रमण से पूर्व का एक प्रसंग—कवि लिखता है कि:—

लषन हृदय लालसा विसेखी, जाइ जनकपुर आइय देखी।
प्रभु भय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं, प्रगट न कहहिं बहुरि मुसुकाहीं।

इस प्रेम एवं संकोच की मुस्कान में हास्य की कितनी सूक्ष्मता है—यह विचारणीय है। राम सब रहस्य समझ गए पर स्वयं भी उसी संकोच में हैं। कवि लिखता है—

राम अनुज मन की गति जानी, भक्त वछलता हिय हुलसानी।
परम विनीत सकुचि मुसुकाई, बोले गुरु अनुशासन पाई।
नाथ लषन पुर देखन चहहीं, प्रभु संकोच डर प्रगट न कहहीं।
जो राउर अनुशासन पावों, नगर दिखाइ तुरत लै आवों।

संकोच के इस कोमल हास्य की सूक्ष्मता कितनी सुंदर है और कवि की आलोचना कितनी मार्मिक!

पुष्प वाटिका में पार्वती-मूर्ति की मुसुकान का प्रसंग—पार्वती-मंदिर में सीता जी उनकी पूजा अधिक अनुराग से करती हैं और संकोच में बड़ी सुंदरता से अपना मनोवाञ्छित फल यों माँगती हैं—

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे, सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे।
मोर मनोरथ जानहु नीके, बसहु सदा उर पुर सब ही के।

आह, अब प्रेमावेग रुक न सका, सीता के हाथ से वह माला छूट पड़ी जो पार्वती जी को पहिनाना चाहती थीं और वह पार्वती के चरणों पर गिर पड़ीं। कवि लिखता है—

कीन्हयों प्रगट न कारण तेही, असकहि चरण गहे वैदेही।
विनय प्रेम वश भई भवानी, खसी माल मूरति मुसुकानी।

पार्वती जी की मुस्कान कितनी सुंदर है और कवि की आलोचना कितनी मर्मपूर्ण। पार्वती जी विनय और प्रेम के वश होकर उदारता के कारण मुस्कुराई हैं, परिहास—भाव से नहीं। हाँ, हास्य का इतना पुट अवश्य है कि वे सीता की प्रेम—निमग्नता की बेसुधी को ताड़ जाती हैं जिसके कारण उनके हाथ से माला गिर गई थी।

बहुत से लोग माला के खिसकने का अर्थ यह करते हैं कि यह पार्वती जी के सिर से खिसकी थी जो प्रसाद रूप था और मुसुकान केवल प्रसन्नता की मुसुकान थी जिसमें हास्य-भाव न था। मुझे स्वयं तो पहला ही अर्थ अभीष्ट है, क्योंकि उसमें हास्य का आनंद और काव्य-चमत्कार है। सीता की बेसुधी तो देखिए कि माला गिरी तो है अपने हाथ से, पर कवि लिखता है कि :—

सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ।

मानो सीता ने उसे प्रसाद ही समझा। इस अर्थ में हास्य एवं शान्त भाव का बड़ा सुंदर मिश्रण है पर दूसरे अर्थ में केवल शान्त-रस का। 'खसी'-क्रिया भी मेरी ही बात की पुष्टि करती है जिसकी 'कर्ता' माला है न कि देवी।

प्रतिहास्य का एक उदाहरण—धनुष यज्ञ के विशेष प्रसंगों का कुछ उल्लेख हो चुका है पर हम यहाँ उसके प्रसंग में प्रतिहास्य का एक सुंदर उदाहरण देने जा रहे हैं। 'प्रतिहास्य' वह है जब हम स्वयं हास्यकर्ता पर हँसते हैं।

ज्यों ही राम-लक्ष्मण ने धनुष-मखशाला में प्रवेश किया कि बहुत से राजे उन्हें देखते ही हृदय में हार मान बैठे और कहने लगे कि—

विन भंजेहु भव धनुष विशाला, मेलहि सीय राम उर माला।

यह वात साधारणता की परिधि से बाहर निकली और कवि ने उसकी हँसी अन्य राजाओं द्वारा यों कराई—

विहँसे अपर भूप सुनि बानी।

परन्तु क्योंकि यह वात वास्तविकता से बाहर है और सचाई पहले ही राजाओं के कथन में थी, अतः कवि ने स्वयं इसके प्रतिहास्य में उन्हें 'अविवेक-अंध' अभिमानी ही कहा है, क्योंकि पहले वे लोग यह भी तो कह चुके थे कि—

राम चाप तोरब सक नाहीं।

अभिमानी राजे अपनी डींग के ज़ोर में कहते हैं—

तोरेहु धनुष व्याह अवगाहा, विन तोरे को कुँवरि वियाहा।
एक बार कालहु किन होऊ, सिय हित समर जितब हम सोऊ।

इस कथन से प्रतिहास्य-भाव इतने ज़ोर का पैदा होता है कि हमारे मुँह से एक दम निकल जाता है कि "लेना लपक के!" पूछिये तो सही कि ये राजे इसी वात पर तो हँसे थे कि विना धनुभंजन के भी सीता जयमाल पहिना देंगी, परन्तु अपने अहंभाव वश उन्हें स्वयं धनुष-भंग वाली शर्त की सुध न रही और लगे कहने कि हम लड़ कर जीत लेंगे। कवि ने उसकी कैसी अच्छी हँसी उड़वाई है :—

यह सुनि अपर भूप मुसुकाने, धर्म शील हरि भक्त सयाने।
सीय विवाहब राम गर्व दूर करि नृपन कर,
जीत को सकि संग्राम दशरथ के रन बाँकुरे।

वृथा मरहु जनि गाल बजाई, मन मोदक नहिं भूख बुताई।

अंतिम पद हास्य के दृष्टिकोण से कितने ग़ज़ब का है!

जयमाल डालने का प्रसंग—सखियाँ सीता जी से कहती हैं कि राम जी के पैर छुओ। कुशल कवि हास्य का कितना सुंदर प्रसंग पैदा कर देता है :—

सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता, करत न चरन परस अति भीता।

गौतम तिय गति सुरत करि नहिं परसत पद पानि,
मन विहँसे रघुवंश मनि प्रीति अलौकिक जानि।

सच है, इस सूक्ष्म हास्य-प्रसंग को हास्येश्वर राम के सिवा और कौन समझे? सखियाँ भी न समझ सकीं। वाक़ई प्रीति अलौकिक है। कहीं गौतम-नारी की तरह चरण-स्पर्श से सीता दूसरे लोक को चली जाय तो वियोग ही तो होगा।

कोहबर में लौकिक रीतियों के हास-विलास का आनंद—कवि लिखता है—

अति प्रीत लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै।
लहकौर गौरि सिखाय रामहिं सीय सन सारद कहै।
रनिवास हास विलास रस वस जनम को फल सब लहै।

प्रेम का जाल और लज्जा का फंदा कितना सुंदर है कि आज दूल्हा मियाँ की सब चतुराई भूली हुई है और लहकौर के सिखाने की ज़रूरत है। सीता के प्रेम का चित्र और भी सुंदर है, देखिए और कोमल-हास्य का आनंद लीजिए :—

निज पानि मनि महँ देखि अति मूरति स्वरूप निधान की,
चालति न भुज वल्ली विलोकनि विरह भय वश जानकी।

धन्य हैं तुलसीदास जो भावों की इतनी सूक्ष्मता का चित्र खींच सकते हैं! किसी आभूषण के नग पर राम की मूर्ति का

अक्स पड़ रहा है। सीता उसी के देखने में मग्न हैं, क्योंकि लज्जा के कारण राम की ओर सीधे ताक नहीं सकतीं। शारदा कहती है कि लहकौर खिलाओ परन्तु सीता को यह भय कि मैंने अपना हाथ हिलाया और उस प्रतिबिम्ब से वियोग हुआ। कवि लिखता है :—

कौतुक विनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।

सखियाँ जान गईं और इसीलिए उन्हें आनंद आया, पर कह तो वे भी न सकीं।

आह, आज संसार विवाह की इन लौकिक रीतियों को त्याग कर विवाह को भी शुष्क बनाना चाहता है और केवल रूखी-सूखी रजिस्ट्री की प्रथा पर आ रहा है। हमारे महाकवि ने भी विश्वामित्र द्वारा कहला दिया था कि विवाह तो धनुष-भंग के साथ ही होगया परन्तु उस मुनि ने भी जनक को यह आज्ञा दी कि लोक एवं कुल की रीतियाँ जाकर करो। इसका प्रयोजन ही यह है कि ऐसे ख़ुशी के मौक़े पर कुछ तो कौतुक, विनोद और प्रमोद हो।

लोक रीति जननी करहिं बर दुलहिन सकुचाहिं,
मोद विनोद विलोकि बड़ राम मनहिं मुसुकाहिं।

'झेंपू' चरित नायक के कितने कोमल उदाहरण हैं और फिर राम का उपहास-भाव तो मानो सोने में सुगंध है। हमारे कालेजों के निकले हुए नवयुवक तो ऐसे प्रसंगों पर नाक-भौं सिकोड़ कर सारा मज़ा किरकिरा कर देते हैं।

बरात से लौट कर दशरथ का जनक को प्रशंसा करना—श्रीवास्तव जी ने एक 'बक्की' चरित नायक भी माना है और यह ठीक भी है। हम ने अब तक जो उदाहरण दिए हैं वे बहुधा ऐसे हैं जिनसे चरित-नायक के प्रतिकूल-भाव हमारे हृदय में पैदा

होते हैं। यहाँ ऐसा उदाहरण दिया जायगा जिसमें चरितनायक से हमारी सहानुभूति हो। कवि लिखता है—

कहेउ भूप जिमि भयउ विवाहू, सुनि सुनि हर्ष होय सब काहू।
जनक राज गुन शील बड़ाई, प्रीति रीति संपदा सुहाई।
बहु विधि भूप भाट जिमि बरनी, रानी सब प्रमुदित सुनि करनी।

वाह रे तुलसी! वह राजा जो भाटों द्वारा अपनी विरुदावली सुना करते थे, आज स्वयं भाट बन गए। कवि ने ऊपर प्रशंसा वाले प्रसंगों की सिर्फ़ सूची दी है जिससे हमें एक ओर राजा के 'बक्कीपन' का अनुभव हो जाय पर यह सहानुभूति भी उत्पन्न हुए बिना न रहे कि प्रसंग भी इतने अधिक थे कि 'बक्की' होना स्वाभाविक ही था।

हमारा दृढ़ सिद्धान्त यह है (जिस का उल्लेख अन्य लेख-मालाओं में हो चुका है) कि तुलसीदास जी ने केवल महाकाव्य और नाटक का एकीकरण ही नहीं किया बल्कि उसमें सामाजिक मनोवैज्ञानिक (Socio-psy-chological) औपन्यासिक कला के गुणों को भी समाविष्ट कर दिया है। कौन है जो उपर्युक्त तथा ऐसे ही अन्य प्रसंगों को विक्टर ह्यूगो, मैरी कॉरेली और प्रेमचंद की याद किए बिना पढ़ सके?

गंगा पार करने का प्रसंग—यों तो हम केवट राम-संवाद की ओर कई बार संकेत कर चुके हैं, परन्तु क्योंकि सारा प्रकरण परिस्थिति-व्यंग का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है अतः हम उसे यहाँ कुछ अधिक विस्तार से लिखते हैं।

माँगी नाव न केवट आना, कहहि तुम्हार मरम मैं जाना।

द्वितीय चरण हास्य-रस का अत्यन्त सूक्ष्म उदाहरण है। एक अल्पबुद्धि मनुष्य किसी बड़े बुद्धि वाले मनुष्य की किसी बात पर गद्दा लगाता है। बात है उसकी समझ से बाहर की इसलिये गद्दा

ठीक नहीं बैठता और हम हँस पड़ते हैं। इस गुण का एक बड़ा अच्छा उदाहरण मेरे बड़े भाई बाबू पंडित बहादुर शर्मा जी स्वभाव से ही हँसमुख हैं, अकसर जिक्र किया करते हैं जो यों है :—

एक देहाती अपनी ससुराल गया। वहाँ सालियों-सलहजों ने तरह-तरह के आकारों की मिठाइयाँ तश्तरियों में लाकर उसके सामने रख दीं। अब खाने का आग्रह हुआ तो लल्ला जी ने हाथ न उठाया। बहुत आग्रह करने पर बोले कि "तुम लोगों ने मुझे बिलकुल ही गँवार समझ लिया है। मेरी नानी भी बिठूर के मेले जाया करती थीं तब इसी तरह के खिलौने लाती थीं" इस पर सभी हँस पड़े और लल्ला झेंप गए।

कुछ ऐसा ही आनन्द हमें केवट के इस कथन पर आता है कि "तुम्हार मरम मैं जाना"। क्या मर्म जाना—

चरन कमल रज कहँ सब कहई, मानुष करनि मूरि कछु अहई।

जो शब्द मोटे अक्षर में छपे हैं उनसे साफ़ प्रगट है कि मूढ़ बेचारे की समझ में कुछ नहीं आता और दूसरे की कही बात पर अपना गढ़ा लगाता है। भगवान की तारण-शक्ति को उनके पैरों की धूल से सम्बन्धित करता है जो केवल नैमित्तिक कारण है। प्रसंग कितने कोमल हास्य का है! हमें इस सीधे-सादे भक्त से बड़ी मुहब्बत पैदा हो जाती है।

छुवति सिला भइ नारि सुहाई, पाहन ते न काठ कठिनाई।

कितनी सरल पर हास्य जनक उक्ति है! सच है, यदि पत्थर की सिला अपसरा बन सकती है तो बेचारे केवट की नाव का क्या होगा?

तरिनिउ मुनि घरनी होइ जाई, बाट परइ मोरी नाव उड़ाई।

ख़ूब! बेचारे को अपनी ही हानि का ख़याल नहीं है कि नाव उड़ जायगी पर जनता की हानि का भी ख़याल है, क्योंकि मार्ग ही

चन्द हो जायगा । इस वैरङ्ग उदारता में वह रस है जो दिल में गुदगुदी पैदा किए विना नहीं रहता ।

जो प्रभु पार अवसिगा चहहू, मोहिं पद पदुम पखारन कहहू ।

पद पदुम धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं,
मोहिं राम राउर आन दशरथ सपथ सव साँची कहौं,
वरु तीर मारहिं लपन पै जव लगि न पाँव पखारिहौं,
तव लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं ।

यहाँ कोमल-हास्य भक्ति के साथ मिलकर हमारे हृदय में ऐसे विचित्र भाव लाता है कि हम इस प्रसंग को अश्रुपात के विना पढ़ नहीं सकते । यह भक्त-हठ भी वाल-हठ से कम नहीं । गुप्त अवतार होने के कारण आज भगवान की वह शक्ति जिसने तीन पगों में तीनों लोक नाप लिये थे, काम नहीं आती ! लक्ष्मण जी का क्रोध भी जिसने परशुराम को परास्त कर दिया था आज पंगु है ! 'वरु तीर मारहिं लपन' में इसी वात का परिस्थिति-व्यंग है ।

भगवान राम तो हास्य-रस के भी प्रभु हैं, इस परिस्थिति-व्यंग की सारी गतियों को तुरन्त ताड़ गए । साथ ही इस सीधे-सादे भक्त के सरल प्रेम पर उन्हें करुणा भी आ गई । वाह रे सूक्ष्म-दर्शी तुलसीदास ! यह तुम्हारा ही काम था कि यहाँ हास्य और करुण रसों को मिलाकर असम्भव को भी सम्भव कर दिया । कवि लिखता है :—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे,
विहँसे करुणा अयन चितय जानकी लछन तनु ।

मैं इस सोरठे को जितनी वार पढ़ता हूँ, नया आनन्द मिलता है, परन्तु वह आनन्द इतना सूक्ष्म होता है कि आलोचना-शक्ति उसे ग्रहण नहीं कर सकती । मैं तो इसे कवि का वह चमत्कार समझता हूँ जिसके आगे आलोचक को भी शिर झुकाना पड़ता है । परन्तु

क्योंकि कुछ न कुछ लिखना ही है अतः मेरी अल्प आलोचक शक्ति ने जो भी अनुभव किया है, नीचे लिखे देता हूँ। परन्तु मैं स्वयं संतुष्ट नहीं हूँ कि मैं कवि का पूरा आशय समझने में सफल हुआ हूँ। सोरठे की बारीकी खोलने की कुंजी मेरी समझ में 'बिहँसे करुना अयन' शब्द हैं। आह, लक्ष्मण के तेवर जिस इनकार पर बदल गए थे उसी ने भगवान के हृदय में करुणा उत्पन्न कर दी। वे ठीक समझे हैं कि बेचारे केवट की परिस्थिति दयनीय है। उस ने ढिटाई से इनकार नहीं किया, बल्कि उसे अपनी नाव के साथ ही जीविका के भी खो देने का भय है। परन्तु यह व्याख्या भी अधूरी है। केवट के हृदय में प्रेम है, इसलिये अपनी नौका के बचाव की कैसी सुन्दर युक्ति निकाली है कि पाँव पखारने के पश्चात ही पार उतारूँगा। यदि प्रेम न होता और वह राम जी को साधारण पथिक समझता तो कहता कि अपने पैर धो डालिए। यह बात 'न उतराई चहौं' वाक्य से जो पहले आ चुका है, और साफ हो जाती है। कभी-कभी तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगता है कि केवट रूप में कोई बड़ा राम-भक्त एक खेलाड़ी का खेल खेल रहा है। कुछ भी हो, भगवान राम के हँसने के दो कारण हैं। एक तो केवट के अटपटे बैन जो उन्हें ऐसे ही हास्यजनक परन्तु मनोहर मालूम हुए होंगे जैसे हमें अपने बच्चों के तोतले बोल, और दूसरा कारण यह कि राम जी को इस परिस्थिति-व्यंग में पाकर स्वयं अपने पर हँसी आई होगी कि आज खूब फँसे। द्वितीय चरण की बड़ी-बड़ी व्याख्यायें की जाती हैं और खूब की जाती हैं, क्योंकि सोरठा भक्ति का अगाध स्रोत समझा जाता है। पर हम यहाँ केवल हास्य-रस की ओर ही संकेत करना चाहते हैं। अतः हमें तो इसका अर्थ यही प्रतीत होता है कि राम जी लज्जित हो गए, इसलिये एकाएक उस केवट से चार आँखें नहीं की। उसने आज उन्हें कठपुतली बना दिया, और अपने साथी

लक्ष्मण और सीता की ओर देखने लगे। इस विचार-दृष्टि से इस सोरठे में हास्य-रस की बड़ी कोमल परिस्थिति का वर्णन है। लक्ष्मण की ओर देखने के दो और कारण जान पड़ते हैं। एक तो राम को लक्ष्मण पर अवश्य हँसी आ गई होगी और वह मानो उनसे कह रहे हैं कि भाई, इस समय क्रोध व्यर्थ है। यदि तुम्हारी कभी-कभी बाल-हठ हुआ करती थी तो यहाँ आज भक्त-हठ है। जानकी जी की ओर देखने और हँसने का कारण शीघ्र प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि लक्ष्मण की ओर तो केवट ने भी संकेत कराया था और उनके तीर की तरफ इशारा किया था, पर जानकी जी की ओर तो कोई संकेत भी न था। मुझे तो एक कारण यही प्रतीत होता है कि केवट से झेंप छिपाने के लिये लक्ष्मण और जानकी की ओर देखने लगे। दूसरा कारण यह है कि कदाचित कोमल हृदय सीता भी इस परिस्थिति पर मुस्करा दी होंगी जिसने राम के हास्य-भाव और झेंप दोनों को उभार दिया। तीसरा बड़ा ही चुलबुला अर्थ यह है कि राम ने सीता की ओर देखा कि देखो लक्ष्मण की आज सारी तेज़ी गायब है, तीर हाथ में है पर कुछ बस नहीं पड़ता। श्री मैथिली शरण गुप्त ने अपने 'साकेत' में सीता और लक्ष्मण के निमित्त भावज और लला वाले विविध प्रसंगों का अनेक बार उल्लेख किया है। राम जी का सीता की ओर देख कर अपने पर हँसने का एक कारण यह भी है कि हे जगत्माया! मैं तुम्हारा पति कहलाते हुए और माया के बंधन में न पड़ते हुए भी आज इस भक्त के बंधन में पड़ा हूँ। भक्ति श्रेष्ठ है या माया? कुछ हो क्यों न हो, दो कसौटियाँ सोरठे में साफ़ बता रही हैं कि अपने ऊपर हँसी ज़रूर है और हँसी के साथ झेंप भी। एक यह जानकी और लक्ष्मण के तन की ओर देखा है, मानो झेंपी हुई दृष्टि अपने साथियों की आँख से आँख भी नहीं मिला सकती। हाँ, प्रतिद्वंद्वी से आँख हटाकर साथियों के तन की ओर देखने

लगती है। दूसरी कसौटी यह कि 'चितै' क्रिया अपूर्ण रूप में है जिसके अर्थ यह हैं कि साथियों की ओर देखने के बाद अपने पर हँसी आई और झेंप अधिक बढ़ गई कि ये साथी भी क्या कहते होंगे। 'बिहँसे' शब्द को कवि ने सोरठे में ऐसी जगह जड़ा कि वह केवट की ओर भी जाता है और दूसरी ओर भी। 'सुनि' क्रिया भी अपूर्ण है। मानो एक ओर हँसी आई केवट के बैन सुनने से और दूसरे जानकी और लक्ष्मण की ओर देखने के कारण। अस्तु, कुछ भी हो, उपहास-भाव का अत्यंत कोमल उदाहरण अवश्य है।

अब तनिक झेंप मिटने पर राम जी के लिये कवि लिखता है—

कृपा सिंधु बोले मुसुकाई, सोइ कर जेहि तव नाव न जाई।

वाह, जैसा रूप धारण किया है वैसा ही खेल खेल रहे हैं। आज राम भी भक्ति-भावना समझ उसी के साँचे में ढल उसी के साथ खेलना चाहते हैं। इसीलिये उन्हें 'कृपासिंधु' लिखा है। यदि भक्त उन्हें कठपुतली बना कर नचाना चाहता है तो वे भी तैयार हैं और साफ़ कहते हैं कि भाई! जिस में तेरी नाव न जाय वही कर। इसका पूरा आनन्द तब आएगा जब किसी बाबा को पोते के साथ खेलता देखें। पोता छड़ी के घोड़े पर सवार हाँकता हुआ आता है और बाबा को जो सईस बना हुआ है, छड़ी का घोड़ा देते हुए कहता है कि देख! मैं अभी आता हूँ, घोड़ा कहीं भाग न जाय। इसे खूब मल-दल रखना और चारा-दाना खिला रखना। बूढ़ा बाबा हँसता है और छड़ी के घोड़े को हाथ में लेते हुए कहता है कि बहुत अच्छा साहेब हुजूर का हुक्म जरूर मानूँगा। दोनों जगह उपहास-भाव की सूक्ष्मता इसी में है कि अपने को अपने साथी की भावना तक उतार लाएँ।

राम जल्दी में थे कि

"खोज मार रथ हाँकहु ताता।"

के अपील के साथ अयोध्यावासियों से भाग कर आए हैं, कहीं वे लोग खोज पाकर पकड़ न लें और यहाँ यह केवट है कि ख्वाम-ख्वाह देर कर रहा है। दूसरे, वहर-हाल राम हैं झेंप की दशा में और उससे भी छुटकारा चाहते हैं अतः कहते हैं :—

वेगि आन जल पायँ पखारू, होत विलंव उतारिहि पारू।

तदोपरान्त तुलसी जी ने इस सारी घटना पर भक्ति-पक्ष की वड़ी सुन्दर आलोचना की है और देवताओं ने पुष्प वर्षा।

वाल्मीकि आश्रम का कोमल हास्य

रामचन्द्र जी ने मानवी अवतार लिया है इसलिये अपने मुँह से आधिभौतिक मनुष्य की ही भाँति वातचीत करते हैं परन्तु अव वह हैं ऋपियों के आश्रमों में जहाँ लोग उनके असली रूप को पह-चान लेते हैं। दोनों ओर आनन्द वही होता है जो किसी वहुरूपिये के पहचान लिये जाने में आता है। वाल्मीकि जी ने भी पहचान कर ही वड़े कोमल भाव से कहा है कि धन्य हैं आप कि—

जस काछिय तस चाहिय नाचा।

राम जी ने फिर सरल भाव से पूछा कि महाराज हम रहें कहाँ?

वाल्मीकि जी जो उन्हें जान गए थे कितना सुंदर उत्तर देते हैं—

पूछेहु मोहिं कि रहहुँ कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुमहिं दिखावहुँ ठाउँ।

इस सिलसिले में कितने ही पद हैं जिनमें अनेकानेक भक्त-हृदयों में राम जी को ठहराने के लिये कहा गया है। पद भक्ति-मार्ग में वड़े ही सुंदर हैं। अंत में जाकर ऋपि ने उन्हें चित्रकूट में रहने की बात कही। ऋपि का संकोच तो ऊपर आपने देख ही लिया परन्तु कवि लिखता है कि राम जी भी अपने पहचान

लिये जाने पर सकुचा गए और 'मन महँ मुसकाने'। उपहास भाव कितना सुंदर है और गुप्त रूप को कितना सँभाला गया है कि मुस्कान मन ही में है। बाहर नहीं।

अरण्य कांड में अगस्त्य के शिष्य से मिलने के बाद—शिष्य को राम-मिलन से तृप्ति नहीं हुई और किसी मिस उनके साथ रहना चाहता है अतः अगस्त्य मुनि के यहाँ पहुँचा देने का बहाना खोज कर यों कहता है—

मुनि प्रनाम करि कह कर जोरी, सुनहु नाथ कछु विनती मोरी।
बहुत दिवस गुरु दर्शन पाए, भये मोहिं यहि आश्रम आए।
अब प्रभु संग जाहुँ मुनि पाहीं, तुम कहं नाथ निहोरा नाहीं,

यहाँ उस मुनि की 'चतुराई' देख कर दोनों भाई हँस पड़े!

अगस्त्य-आश्रम में पहुँचने पर आदर-सत्कार के बाद राम जी कहते हैं :—

.... तुम सन प्रभु दुराव कछु नाहीं।
तुम जानहु जेहि कारण आयउँ, ताते तात न कहि समुझायउँ।
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोहीं, जेहि प्रकार मारहुँ मुनि द्रोही।
निशिचर अब न बचहिं मुनिराई, जिमि पंकज बन हिम ऋतु आई।

बाल्मीकि-आश्रम में तो राम ने बिलकुल ही साधारण मनुष्य की भाँति रहने का स्थान पूछा था। अब चूँकि "निशिचर हीन करहुँ महि" वाली प्रतिज्ञा के ऋषि-आश्रमों में फैल जाने के कारण यह आवश्यक है कि उस प्रतिज्ञा के साथ मानवी रूप का निर्वाह हो अतः उपर्युक्त राम-वाक्यों में क्षत्री-राजा का रूप प्रधान है।

[बाल्मीकि रामायण में तो एक जगह राम जी के मुख से स्पष्ट कहला दिया गया है कि हम इक्ष्वाकु-वंशी हैं जिन के सिपुर्द सम्पूर्ण सृष्टि का राज्य-शासन है अतः साधुओं का परित्राण और दुष्टों का दमन हमारा कर्तव्य है]।

रूप ऐसा भरा गया है कि पहचानना कठिन है और प्रतिज्ञा भी राज्य-कर्तव्य रूप में परिणत कर दी गई है। पर सच कहा है कि 'ताड़ जाते हैं ताड़ने वाले' ऋषि ने तो पहचान ही लिया और उत्तर में मुस्काते हुए कहा :—

मुनि मुस्काने सुनि प्रभु बानी, पूछेउ नाथ मोहिं का जानी।
तुम्हरे भजन प्रभाव अघारी, जानौं महिमा कछुक तुम्हारी।
अति कराल सब पर जग जाना, औरौ कहा सुनिय भगवाना।
ऊमरि तरु विशाल तव माया, फल ब्रह्मांड अनेक निकाया।
जीव चराचर जंतु समाना, भीतर बसहिं न जानहिं आना।
ते फल भक्षक कठिन कराला, तव भय डरत सदा सोउ काला,
ते तुम सकल लोकपति साईं, पूछेउ मोहिं मनुज की नाईं।
यह बर माँगौं कृपा निकेता, बसहु हृदय सिय अनुज समेता।

मुनि जी मानो खेल में प्रति-द्वंद्वी हैं अतः राम जी के पहचान लिये जाने पर उनके वरदान रूप में 'दाँव माँगना' भी बड़ा ही उपयुक्त है।

[ऋषि-आश्रमों में भगवान का आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रूप पहिचाना जाने लगा है और "निशिचरहीन करौं महि" की प्रतिज्ञा के उपरान्त महाकाव्य-कला के 'वीर' एवं 'रौद्र' रसों का अधिक प्रगटीकरण हो चला है और नाटकीय कला घट चली है। परन्तु याद रहे कि केवल कला का रूप बदलता है यह बात नहीं है जैसा ग्राउस महोदय कहते हैं कि काव्य-कला में कमी आ गई। अब तो साधारण कवि तुलना में ठहर ही नहीं सकता, केवल मिल्टन, होमर जैसे महा कवि ही ठहर सकेंगे, क्योंकि कला का रूप अति विशाल है]।

खरदूषन से साक्षात्कार और युद्ध—हम देख चुके हैं कि राम-लक्ष्मण की सुंदरता का परशुराम पर ऐसा प्रभाव पड़ा था

कि क्रोध होने पर भी कुठार न उठता था। आज हम सुंदरता का वही प्रभाव खर-दूषन पर भी देख रहे हैं। वे कहते हैं कि हमने नाग, असुर, सुर, नर, मुनि, सब देखे हैं पर—

हम भरि जनम सुनहु सब भाई, देखी नहिं अस सुंदरताई।
यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।

कितना सूक्ष्म हास्य-रस है? सुंदरता ने वह मूढ़ता उत्पन्न कर दी है कि बहिन के नाक काटने की बात भी क्रोध को उत्तेजित नहीं करती। परन्तु हास्य-रस की अवस्था है कोमल, क्योंकि कवि कहलाता है—

वध लायक नहिं पुरुष अनूपा।

कोमलता का आनंद आप को तब मिलेगा जब आप कल्पना करें कि यदि इसी प्रसंग को यों कहलाया गया होता तो प्रभाव पड़ता।

"राम और लक्ष्मण की सुन्दरता पर खर-दूषन इतने मुग्ध हुए कि निर्लज्जता से कहते हैं कि बहिन की नाक काट डाली तो क्या हुआ, बालक बड़े ही सुन्दर हैं और वध-योग्य नहीं।"

राक्षसों को इस सुन्दरता से एक धोखा भी हुआ जिस पर आगामी हास्य-रस की निर्भरता है। वे राम-लक्ष्मण की वीरता का अनुमान न कर सके अतः दूत द्वारा कहला भेजा कि यदि वे सीता जी को हमारी भेंट कर दें तो हम उन्हें जीवित छोड़ कर लौट जायँ राम जी तुरन्त व्यंग की नम्रता के साथ बोले—

आजु भयउ बड़ भाग हमारा, तुम्हरे प्रभु अस कीन्ह विचारा।
हम छत्री मृगया बन करहीं, तुम से खल मृग खोजत फिरहीं;

अस्तु! सीता के देने का प्रस्ताव तो केवल हास्य से सुना नहीं जा सकता अतः हास्य के साथ वीर रस का विकास नितान्त

स्वाभाविक है। यदि प्रथम पद में व्यंग रूपी हास्य था तो दूसरे में वह कटाक्ष में बदल गया !

सीताहरण—मारीच की नकली आवाज से सीता जी को धोखा होता है और वह लक्ष्मण को राम के सहायतार्थ भेज देती हैं। आश्रम में सीता के सिवा और कोई नहीं, परन्तु चोर का दिल कितना, रावण की हिम्मत नहीं कि अपने रूप में सीता के सामने आए। कवि द्वारा खचित रावण का व्यंग चित्र देखिए और चित्रण की प्रशंसा कीजिए :—

जा के डर सुर असुर डराहीं, निशि न नींद दिन अन्न न खाहीं।
सो दस शीश स्वान की नाईं, इत उत चितै चला भँडियाई।

'स्वान'-शब्द से 'वीभत्स' और 'भँडियाई' से 'हास्य' रस का प्रगटीकरण होता है। दोनों का मेल कितना सुन्दर है परन्तु कितना सूक्ष्म ! 'भँडियाई' का साहित्यिक प्रयोग भी कितना सुन्दर है। राम के मानवी रूप लेने और इस राक्षसी माया के अंतर पर भी विचार कीजिए प्रसंग से आगे की बात अवश्य होगी, पर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि मारीच के कपट-मृग बनने के बाद रामायण के आधिदैविक रूप का एक अंश देवासुर मायाओं का संघर्षण है।

राम-हनुमान-मिलन—सुग्रीव ने हनुमान जी से यह कहा कि ब्राह्मण-रूप रख कर जाइए और यह पता लगाइये कि ये दोनों युवक जो आ रहे हैं वे कहीं बालि के भेजे तो नहीं हैं। हनुमान जी वह रूप धारण कर वहाँ जाते हैं और वार्ता चलती है। हनुमान जी कहते हैं—

को तुम श्यामल गौर शरीरा, क्षत्रिय रूप फिरहु वन वीरा।
कठिन भूमि कोमल पद गामी, कौन हेतु वन विचरहु स्वामी।

मृदुल मनोहर सुन्दर गाता, सहत दुसह वन आतप वाता।
की तुम तीन देव महँ कोऊ, नर नारायण की तुम दोऊ।

जग कारन तारन भव, भंजन धरनी-भार,
की तुम अखिल भुवन पति, लीन्ह मनुज अवतार ?

हनुमान ने भी अपने रूप को खूब निबाहा है। राम को भी वह अच्छी तरह पहिचान नहीं सके। हाँ उनके हृदय रूपी दिशा-सूचक यंत्र की सुई अपने इष्ट रूपी ध्रुव की ओर जा रही है परन्तु काँपती हुई! राम जी तो गुप्त रूप में थे ही, अतः हँस कर बोले—

हँसि बोले रघुवंश कुमारा, विधि कर लिखा को मेटन हारा।
कौशलेश दशरथ के जाये, हम पितु वचन मान वन आए।
नाम राम लछमन दोउ भाई, संग नारि सुकुमार सुहाई।
यहाँ हरी निशिचर वैदेही, विप्र फिरें हम खोजत तेही।
आपन चरित कहा हम गाई, कहौ विप्र निज कथा बुझाई।

वार्ता के प्रारम्भ में 'हँसि' शब्द बड़ा ही सुन्दर है। राम को ठीक वही आनन्द आ रहा है जो आँख मिचौनी खेलते हुए किसी बालक को तब आता है जब वह अपने प्रति-द्वंद्वी की खोज से बाल-बाल बच जाता है और हँसकर अधिक छिप जाने का प्रयत्न करता है। देखने वालों को इस छिपने के प्रयोग में भी कोमल हास्य का मजा आ जाता है। श्री विजयानंद जी त्रिपाठी ठीक कहते हैं कि उपर्युक्त पदों से सुन्दर, सरल, आधिभौतिक एवं संक्षिप्त वर्णन बालकांड से यहाँ तक की कथा का और हो नहीं सकता।

अब हनुमान जी ताड़ गए और नम्रता से राम के चरणों पर गिर पड़े। रस का रूप बदल गया। हम 'हास्य' से 'शान्त' रस पर आ गए। परन्तु कोमल हास्य का एक पद हनुमान जी के मुख से निकल गया :—

मोर न्याव मैं पूछेउँ साईं, तुम कसि पूछेउ नर की नाईं।

'हास्य' और 'शान्त' रसों का इतना सूक्ष्म सम्मिश्रण है कि इनको अलग पृथक् नहीं किया ही जा सकता।

इस प्रसंग में हास्य का यह कारण स्पष्ट है कि जो दो मित्रों को एक समय होता है जब वे बहुत दिनों बाद कई रूपान्तर के साथ एक-दूसरे से मिलते हैं और पहले पहचान नहीं पाते अतः कुछ ऐसी हास्यजनक बातें होती हैं जिनका आपस में पहिचान होने पर दोनों हँसते और प्रेम स्थापित कर लेते हैं। Mistaken Identity (व्यक्तित्व का भ्रम) में जो हास्य पैदा होता है उसका एक बड़ा सुन्दर निदर्शन है।

भोग-विलास में राम भूल जाने पर सुग्रीव-राम प्रसंग—जब सुग्रीव भोग-विलास में राम भूल जाते हैं और महीनों तक पता नहीं देते तो पहले राम जी को भी क्रोध आता है। परन्तु सत्यता यह है कि क्रोधित होने पर राम जी उन्हें सखता-सूचक पद भेजते हैं कि बहुत गुस्सा न करना अन्यथा—

भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।

लक्ष्मण के तेवर चढ़े हुए देख पंपापुर में भगदड़ मच जाती है। क्योंकि वह धनुष पर तीर चढ़ाए हुए कहते हैं कि नगर को जला कर मिला दूँगा। सुग्रीव भयभीत होकर अंगद और तारा को उनके पास भेजते हैं। उनके नम्र भाव से लक्ष्मण का क्रोध कुछ शान्त होता है। सुग्रीव भी क्षमा माँगते हैं और फिर सब के साथ ले राम जी के पास आते हैं। सुग्रीव नम्रता से यों कहते हैं—

नाइ चरन सिर कह कर जोरी, नाथ मोहि कछु नाहिं न खोरी।
अतिशय प्रबल देव तव माया, छूटै नाथ करौ जो दाया।
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी, मैं पामर पशु कपि अति कामी।

युक्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि भगवान का क्रोध जाता रहा और वे मुस्करा कर बोले कि भाई! तुम मुझे भरत-सदृश प्रिय हो

राम की इस मुस्कान में परिहास एवं उपहास दोनों भाव हैं उपहास इस कारण कि सुग्रीव ने 'मोहिं कछु नाहिं न खोरी' की ऐसी युक्ति से प्रमाणित कर दिया कि आधी भूल भगवान राम ही की जँचने लगी कि नाहक़ ग़ुस्सा हो रहे थे। परिहास की सामग्री तो

'मैं पामर पशु कपि अति कामी'

वाले वर्णन में मौजूद ही है। राम जी हँस पड़े कि सुग्रीव अपना कैसा हास्यजनक वर्णन करते हैं।

हनुमान-रावण संवाद—हम हनुमान जी के खिलाड़ीपन की मिसाल दो बार दे चुके हैं, अब तनिक उस संवाद पर दृष्टि डालनी है जो रावण से हुआ। वार्ता में हाज़िर जवाबी के साथ 'भक्ति विवेक विरतनय' मिली हुई है अतः हास्य के साथ शान्त-रस का आनन्द नहीं जाता। रावण का प्रश्न है—

केहि के बल घालसि बन खीसा ?

उत्तर कितना हास्यजनक है पर उसी के साथ महाकाव्य की कितनी विशालता का सूचक-शब्दों में महाकवि मिल्टन से भी अधिक ओज है। हनुमान जी कहते हैं—

सुनु रावण ब्रह्मांड निकाया, पाइ जासु बल विरचित माया।
जाके बल विरंच हरि ईशा, पालत हरत सृजत दश शीशा।
जा बल सीस धरत सहसानन, अंड कोप समेत गिरि कानन।
धरे जो विविध देह सुर त्राता, तुम से शठन सिखावन दाता।
हरि कोदंड कठिन जेहिं भंजा, तेहिं समेत नृपदल मद गंजा।

अंतिम पद में कटाक्ष का वार बहुत साफ़ है। हनुमान जी कहते हैं कि भाई, मैं उन्हें राम का दूत हूँ!

रावण का दूसरा व्यंगपूर्ण प्रश्न है कि—

कीधौं श्रवण सुने नहिं मोहीं, देखौं अति अशंक शठ तोहीं।

[illegible] भी [illegible] भूली न भूली है—

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई, सहसबाहु सन परी लराई।
समर बालि सन करि जसु पावा, ...

[illegible] स्पष्ट रूप से दोनों बातों की व्यंजना बालि की हास्य का कारण है और [illegible] यहीं बात है। इसके [illegible] पर यह भी [illegible] रावण के [illegible] में [illegible] —

सुनि [illegible] बचन बिहँसि दसमाथा,

रावण के [illegible] पर हँसी [illegible] है।

[illegible] परन्तु [illegible] रूप से [illegible] है।

आगे के हनुमान जी शिक्षा देते हुए कहते हैं :—

मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान,
भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान।

अब ध्वनि रूपी हास्य का आनन्द लीजिए। सीधा हास्य यह है कि हम हास्य-पात्र पर हँसें परन्तु जहाँ हास्य-कर्ता पर हँसी आवे उसे विपरीत हास्य या उल्टी हँसी कहते हैं। रावण कहता है—

बोला बिहँसि महा अभिमानी, मिला हमहि कपि गुरु बड़ ज्ञानी।

यदि इतना ही कहता तो शायद हँसी का रूप सीधा ही होता परन्तु आगे के पद में रावण का अहंकार इतना स्पष्ट है कि "[illegible]-नायक" पर उल्टी हँसी आ ही जाती है :—

मृत्यु निकट आई खल तोही, लागेसि अधम सिखावन मोही।

हनुमान जी का उत्तर पढ़ा ही [illegible] है पर ऐसा है कि रावण तिलमिला उठता है और हास्य-रस रौद्र-रस में परिणत हो जाता है। हनुमान जी कहते हैं—

उलटा होइहि कह हनुमाना, मति भ्रम तोहि प्रगट मैं जाना।

हास्य की हार में रावण की चिड़चिड़ाहट हँसी से निरहँसि की द्योतक है। अंत में विभीषण राजनीति का उपदेश करते हैं अतः हनुमान की जान तो छूट जाती है परन्तु उनके संबंध में निम्न प्रस्ताव होता है—

कपि कै ममता पूँछ पै सबै कह्यो समुझाय,
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाय।

नटखट हनुमान मन में मुस्कुराते हैं और समझ जाते हैं कि भगवती शारदा स्वयं सहायता दे रही है। हनुमान अपने नटखट पन में कठपुतली बन जाते हैं। लोग पूँछ में कपड़ा लपेट कर तेल में डुबोते हैं पर वह कुछ नहीं बोलते। तालियों के साथ नगर में भ्रमण कराया जाता है पर वह भीगी बिल्ली बने हुए हैं। यहाँ तक कि लात की मार भी सह लेते हैं और मौन ही रहते हैं। हाँ, बीच में एक खेल अवश्य कर देते हैं—

रहा न नगर कतहुँ घृत तेला, बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।

पूँछ में आग लगाते ही खेलाड़ी हनुमान तख्ता पलट देता है। नगर जलता है और हँसने वाले रोते और हाहाकार करते हैं।

हनुमान अंगद आदि की वापसी और मधुवन का उत्पात— दैनिक नैतिक नियमों से नकेल तोड़ा कर हास्यप्रद काम करना भी हास्य-रस का एक अंग है। इसी को परिभाषाओं वाले अंश में 'नकेल तोड़ना' (Sense of liberation) कहा गया है। हम पहले यह भी बता चुके हैं कि श्रीवास्तव जी 'सरा रा रा कबीर' आदि को इसके उदाहरण मानते हैं परन्तु इसे साहित्य का अंग नहीं समझते। हमारे कुशल कवि ने इसे भी परिमार्जित कर साहित्य का अंग बना दिया है जिसका एक सुन्दर उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

हनुमान जी आदि सीता की ख़बर लेकर .ख़ुश-.ख़ुश लौटते हैं और सुग्रीव के विहार-स्थान 'मधुवन' में घुस कर ऊधम मचाते हैं—

तब मधुबन भीतर सब आए, अंगद सम्मत मधुफल खाए।
रखवारे जब बरजन लागे, मुष्टि प्रहार हनत सब भागे।

'फल खाए', शहद पिया और ऊधम मचाया, ये सब कुछ राजा की आज्ञा-बिना ही। और मज़ा यह कि स्वयं युवराज भी इस धमा-चौकड़ी में शरीक हैं। .ख़ुशी के उन्माद का वह ज़ोर है कि जो रखवारा मना करता है उसी से धौल-धप्पे की ठहर जाती है। बेचारे सब भाग गए और राजा से फ़िरयाद करते हैं :—

जाइ पुकारे ते सब बन उजार युवराज।

सच है, जब काबे ही से .कुफ़्र शुरू हो तो मुसलमानी कहाँ रहे? युवराज स्वयं ही उत्पात के कारण हैं।

सुग्रीव अप्रसन्न नहीं हुए क्योंकि वह ताड़ गए कि 'करि आये प्रभु काज' और इसलिये 'हर्षित' हैं। सच है, हम रोज़ देखते हैं कि परीक्षा में पास हो जाने के बाद लड़के हुल्लड़ मचाते हैं, एक दूसरे से मिठाइयाँ छीन कर खाते हैं, परन्तु बड़े लोग नाख़ुश नहीं होते बल्कि .ख़ुशी से देखते और हँसते हैं। इस मधुवन के उजाड़ने और अशोक-वाटिका उजाड़ने वाले प्रसंगों की तुलना करने पर पता लगेगा कि एक ही प्रकार की बाह्यरूप वाली परिस्थितियों से एक जगह हास्य और एक जगह रौद्र-रस कैसे उत्पन्न किया गया।

लंका से लौटने पर हनुमान-राम वार्ता का एक प्रसंग—भगवान राम हनुमान जी से पूछते हैं, कि रावण जैसे राजा की सुरक्षित लंका को आख़िर तुमने जलाया कैसे? हनुमान जी कहते हैं—

साखा मृग की बड़ मनुसाई, साखा ते साखा पर जाई।
नांघि सिंधु हाटकपुर जारा, निशिचर गन वधि विपिन उजारा॥

हनुमान जी का यह उत्तर कितना नम्रता और भक्ति से परिपूर्ण है और उसमें कैसे कोमल हास्य का पुट है—विशेषतः प्रथम पद में।

रावण-मंदोदरी-संवाद—उल्टी हँसी का एक और उदाहरण देखिए पर यह याद रखिए कि यह कला साधारण हास्य-कला से अधिक कठिन है। कारण एक ओर तो हँसनेवाले का विचार-कोण स्पष्ट हो जाना चाहिए जिसमें हम समझ जायँ कि आखिर वह क्यों हँसता था और दूसरी ओर उसी साधन द्वारा हँसने वाले की किसी ऐसी त्रुटि का विकास हो जाना चाहिए जिस पर हमें हँसी आ जाय। कला कितनी सूक्ष्म होती है? यदि कहीं हँसने वाले की हँसी के कारण स्पष्ट न हुए तो मुश्किल, और यदि ऐसा स्पष्टीकरण होने पर हँसने वाले के साथ सहानुभूति हो गई तो उलटी हँसी गायब!

मंदोदरी रावण से कहती है—

समुझत जासु दूत कै करनी, स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी।
तासु नारि निज सचिव बुलाई, पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥
तव कुल कमल बिपिन दुखदाई, सीता सीत निसा सम आई।
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे, हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे॥

राम बान अहि-गन सरिस, निकर निसाचर भेक,
जब लगि ग्रसत न तब लगि, जतन करहु तजि टेक।

यह प्रार्थना सुनकर दया के बजाय रावण में अहंभाव उत्तेजित हो गया। कवि की कला देखिए कि दोहे ने किस सुंदरता से इस परिवर्तन में सहायता दी। नाटकीय कला का गुण यही है कि बहुधा वह भी मानो किसी भाव को किसी एक विचार में कहता है,

और सुनने वाले पर उसके सर्वथा विपरीत प्रभाव पड़ता है। कवि लिखता है—

श्रवन सुनी सठ ताकी बानी, बिहँसा जगत विदित अभिमानी।

सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला का यह कितना भला और छोटा सा नमूना है, रावण के भावों की व्याख्या करके हमें उलटी हँसी के लिये किस सुंदरता से तैयार किया गया है। रावण कहता है—

सभय सुभाव नारि कर साँचा, मंगल महुँ भय मन अति काँचा।
जौं आवै मर्कट कटकाई, जियहिं बिचारे निसिचर खाई।
कंपहिं लोकप जाकी त्रासा, तासु नारि सभीत बड़ि हासा।

कवि ने किस उत्तमता के साथ रावण की हँसी के कारण बता दिए हैं। रावण के दृष्टिकोण से विनोद पर मंदोदरी—वाक्य वाले दोहे का कितना ज़ोरदार उत्तर है परन्तु यही हमारी उलटी हँसी को उभार देता है और मुँह से अनायास निकल जाता है, 'ऐसा लपक के !'

मंदोदरी से विदा होकर रावण राज्य-सभा में आता है और मंत्रियों से प्रश्न करता है कि क्या करना चाहिए। कवि लिखता है :—

बैठेउ सभा खबरि असि पाई, सिंधु पार सेना सब आई।
बूझेउ सचिव उचित मत कहहू, ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं, नर बानर केहि लेखे माहीं।

यह हँसी भी कितनी दोरुखी है। मंत्रिगण रावण के प्रश्न पर हँसते हैं और हम उनकी हँसी पर। नाटकीय विरोधाभास का आनन्द भी यहाँ कम नहीं है। हमारी उलटी हँसी का कारण अंतिम पद का अंतिम चरण है। कवि हमारी सहायता करते हुए

सामाजिक उपन्यास-कला का कितना सुंदर उदाहरण अपनी व्याख्या में देता है :—

सचिव वैद गुरु तीन जौ प्रिय बोलहिं भय आस,
राज धर्म तन तीन कर होइ बेग ही नास।
सोइ रावण कहुँ बनी सहाई, अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई।

'सुनाइ-सुनाई' में कवि ने किस सुंदरता से मंत्रियों का ख़ुशामदी-पन दिखा दिया है जो हमारी हँसी को और भी उभार देता है। यह " ख़ुशामदी चरित नायक " श्रीवास्तव जी की गणना में भी रह गया है। इसी लिये मैंने पहले उनकी गणना समाप्त करने पर साफ़ बता दिया है कि कोई गणना संपूर्ण नहीं हो सकती और हमारी कोई भी त्रुटि हास्यजनक बनाई जा सकती है। प्रसंग से बाहर की बात है, परन्तु यह विचारणीय है कि यहाँ कितनी सुन्दरता से उपदेशक और कलाकार की एकता का प्रगटीकरण हुआ है।

विभीषण का राम के समीप आगमन—राम जी को पता लगता है कि विभीषण उनकी शरण आ रहे हैं। लड़ाई का समय है अतः सचेत रहना भी आवश्यक है। शीघ्रता से मानो एक प्रकार की समर-सभा बुलाई जाती है और राम जी सुग्रीव से पूछते हैं कि क्या करना चाहिए। सुग्रीव का उत्तर स्वभावतः राज-नीति के अनुकूल ही निम्नानुसार है :—

जानि न जाइ निशाचर माया, कामरूप केहि कारन आया।
भेद हमार लेन शठ आवा, राखिय बाँधि मोहिं अस भावा॥

राम जी इस राजनीतिक सम्मति का उचित आदर करते हैं परन्तु महाकाव्य के चरितनायक ' जगतपति ' के अवतार होते हुए अपने शरणागत आए हुए व्यक्ति को त्यागना भी नहीं चाहते और

कहते हैं कि शरणागतों के लिये तो लक्ष्मण जी पक्के हैं, मैं अपने प्रण को क्यों छोड़ूँ ? कवि लिखता है :—

उभय भाँति लै आवहु हँसि कह कृपानिधान ।

'उभय भाँति' से स्पष्ट है कि राजनीति का दृष्टिकोण छोड़ा नहीं गया। यहाँ की हँसी मुस्कान का एक अति सुन्दर उदाहरण है। कवि ने स्पष्ट संकेत किया है कि इस हँसी में कृपालुता का विधान है। सच है, जब हम भारी परिस्थिति को प्रतिकूल पाकर भी किसी पर कृपा करते हैं तो हर्ष और कृपा का विकास हँसी में होता है, क्योंकि इसमें भौतिकता पर आत्मिकता की विजय होती है जो आनन्द का हेतु है। दूसरी ओर यह हँसी इसलिये उत्पन्न होती है कि राम जी सोचते हैं कि 'हरकस ब ख्याले-खेश खब्ते दारद' (हर शख्स अपनी धुन में मगन है), मुझे तो शरणागत का पक्ष लेना है और सुग्रीव को राजनीति का। दोनों हास्य-पात्र हैं।

'उभय भाँति' में वैधशासन (Constitutional monarchy) का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। राजा और मंत्रिमंडल के दृष्टिकोणों का समीकरण हो गया। राम जी की यह आज्ञा हुई कि भाई ! तुम अपनी निगरानी रखो पर यह शरणागत है अतः आदर से ले आओ। क्योंकि हनुमान पूरे भक्त थे, उन्हें शरणागत वाला विचार ही बहुत पसंद आया।

समुद्र से प्रार्थना—अब विभीषण समर-सभा में आ चुके हैं और राम जी ने राजतिलक द्वारा उन्हें 'लंकेश' बना दिया है। रामजी स्वभावतः अब उन्हीं से पूछते हैं कि भाई ! समुद्र को कैसे पार किया जाय ? विभीषण साधु स्वभावी एवं नीति निपुण थे अतः कहते हैं :—

कह लंकेश सुनहु रघुनायक, कोटि सिंधु शोषक तव शायक ।
यद्यपि तदपि नीति असि गाई, विनय करिय सागर सन जाई ॥

यह सलाह रामजी के स्वयं ही स्वभावानुकूल थी अतः बहुत पसंद आई, परन्तु लक्ष्मणजी जो वीर तथा स्वातन्त्र्यप्रिय थे, तड़प उठे और तमक कर बोले :—

नाथ दैव कर कौन भरोसा, सोखिय सिंधु करिय मन रोषा।
कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा॥

नागरिक स्वतंत्रता का कितना सुन्दर उदाहरण है। समर-सभा का एक सदस्य कठोर से कठोर कटाक्ष करने के लिये स्वतंत्र है। 'कादर' और 'आलसी' का संकेत इस समय राम और विभीषण के सिवा और किसकी ओर हो सकता है? पर लक्ष्मण के शिष्टाचार को भी देखिए, संबोधन 'नाथ'—शब्द से शुरू होता है और दूसरा पद सिद्धान्त रूप में रखा गया है। वैयक्तिक आक्षेप रूप में नहीं। रामजी के लिये कवि लिखता है :—

सुनत विहँसि बोले रघुवीरा, ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।

इस हँसी को मैं उदारता की हँसी कहा करता हूँ। वैध-शासन के शासक में इस उदारता का होना कितना आवश्यक है। वह जानता है कि सभासद नेकनीयती के साथ वाद-विवाद के संघर्ष में बहुधा क्रुद्ध भी हो जाते हैं परन्तु ऐसे क्रोध का स्वागत उदारता की हँसी से ही होना चाहिए और काम ऐसा होना चाहिए कि दोनों दृष्टिकोण निभ जायँ। इसीलिये रामजी कहते हैं कि भाई! पहले शील का निर्वाह कर लेने दो :—

'गुड़ से जो मरे तो ज़हर क्यों दो' ('नसीम'—लखनवी) तनिक धीरज धरो, समय आने पर वैसा ही किया जायगा जैसा तुम कहते हो। 'धरहु मन धीरा' में लक्ष्मण पर बड़ा ही कोमल पर अति सुन्दर कटाक्ष भी है जो वाद-विवाद में जान डाल देता है।

इस दृश्य की ओर हम पाठकों का ध्यान फिर दिलायेंगे—उस

स्वभाव तक इन्हीं रूप पर गोस्वामी जी ने सर्वांगीणता की व्याख्या होती दिखलाई। राम के समुद्र के प्रति क्रोधी होने को 'समुद्र से लड़ाई ठानना' कहा है और राम को भी हास्य-पात्र बना दिया है।

अंगद के गुरुजन—अंगद के दो गुरुजन थे और दोनों ज्ञात हुए हैं। जब इन्होंने ऊपर की परिस्थिति देखी तो राम के व्यवहार पर स्वाभाविक रूप से समुद्र के प्रति क्रोध का यह प्रभाव पड़ा कि उनके मुँह से स्वभावतः क्रोधित निकल पड़ा और सारा सहज ज्ञान भाग गया। आगे ये हनुमान जी इन के स्वयं ही एक उदाहरण बन गए। इधर दोनों गुरुजन चलकर सुग्रीव के पास आ गए। क्योंकि हनुमान जी के साथ कभी अंग-भंग की चिन्ता की गई थी अतः यहाँ भी यह प्रकार हुआ कि :—

'अंग अंग पर पटकहु निसिचर'।

जिन पकड़ा था, उन्हें चारों ओर सेना में घुमाया गया और दीन-अवस्था की याद हुई। कवि लिखता है :—

बहु प्रकार मारन कपि लागे, दीन पुकारत तदपि न त्यागे।
जो हमार हर नासा काना, तेहि कोसलाधीस कै आना॥

दूसरे पद में इन वानरों के हृदय का कितना सुन्दर चित्रण है और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति-अनुभव का कितना अच्छा उदाहरण, यह है भगवान के शील का प्रभाव कि उसने विरोधी के मानस पर विजय पाई जो अब उन्हीं की दुहाई दे रहा है।

लक्ष्मण जी को भी दया आ गई और साथ ही हँसी भी। कवि लिखता है :—

दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए।

लक्ष्मण की इस 'तुरत' वाली आतुरता पर पुनः विचार

कीजिये। लक्ष्मण ने उन्हीं के द्वारा रावण को पत्र भी भेजा। सच है, भरोसे से भरोसा पैदा होता है।

रावण और गुप्तचरों का संवाद—गुप्तचरों ने लौट कर वानर-सेना का बड़ा ही विशद वर्णन किया, परन्तु क्योंकि वह प्रसंग से बाहर है अतः छोड़ा जाता है। उस वर्णन के बाद गुप्तचरों ने कहा कि राम :—

सक सर एक सोख सत सागर, तव भ्रातहि पूछेहु नय नागर।
तासु वचन सुनि सागर पाहीं, मांगत पंथ कृपा मन माहीं।

बस रावण को मजाक का मौका मिल गया। वह कहता है—

सुनत वचन विहँसा दस सीसा, जौ असि मति सहाय कृत कीसा।
सहज भीरु करि वचन दृढ़ाई, सागर सन ठानी मचलाई।

हास्य कितना उत्तम है और राम जी को किस सुन्दरता से हास्य-पात्र बना देता है। गुप्तचरों में राम के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो ही चुकी थी, वे तिलमिला उठे और बोले—

सुनि खल वचन दूत रिसि बाढ़ी, समय विचारि पत्रिका काढ़ी।
राम अनुज दीन्हीं यह पाती, नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती।

अंतिम पद की चोट बड़ी सीधी थी परन्तु खेलाड़ी रावण ने झेंप को किस सुंदरता से हँसकर मिटाया। कवि लिखता है—

विहँसि वाम कर लीन्हीं रावन, सचिव बोलि सठ लागि बँचावन।

अब पत्र का विषय देखिए। वह हास्य-रस के कटाक्षांश का बड़ा उत्तम उदाहरण है। यह भी विचारणीय है कि शान्त-रस को हास्य में किस सुंदरता से मिला दिया गया है :—

बात न मनहिं रिझाइ सठ जन घालेसि कुल खीस,
राम विरोध न उबरसि सरन विष्णु अज ईस।

की तजि मान अनुज इव, प्रभु पद पंकज भृंग,
होहि कि राम सरानल, खल कुल सहित पतंग।

वस्तुतः यह ही सुंदर अवसर पर बाहु पत्र निकाल कर दिया गया था। रावण की अदूरदर्शी और राम-विरोधिता के प्रति कटाक्ष का कितना अच्छा जवाब है। सुनते ही रावण भयभीत हो गया परन्तु ऊपर की बनावटी हँसी देखिए :—

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई, कहत दसानन सबहि सुनाई।
भूमि परा कर गहत अकासा, लघु तापस कर बाग बिलासा।

'सबहि सुनाई' से कृत्रिमता स्पष्ट हो जाती है और दूसरा पद तो लक्ष्मण के पत्र पर एक बड़ी ही सुंदर एवं हास्यमय आलोचना का काम देता है।

समुद्र-राम संवाद—जब तीन दिन हो गए और समुद्र ने राह न दी तो राम जी को क्रोध आ गया। कवि लिखता है :—

बिनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीत,
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति।

लछमन बान सरासन आनू, सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू।
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती, सहज कृपन सन सुंदर नीती।
ममता रत सन ज्ञान कहानी, अति लोभी सन बिरति बखानी।
क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा, ऊसर बीज बए फल जथा।

अंतिम चरण लक्ष्मण के सिद्धान्त की कितनी सुंदर व्याख्या है। उनका आशय यही था कि दुष्ट को ताड़ना देनी चाहिए। उस के साथ दया करना ऊसर में बीज बोना है। प्रस्तुत प्रसंग से बाहर की बात है पर इतना अवश्य कहूँगा कि यहाँ उपदेशक और कलाकार का कैसा सुंदर समन्वय है। उपदेशों में रस है और रसों में उपदेश!

समुद्र घबड़ा उठा और विप्ररूप धर भेंट ले सामने आया और बोला :—

.... छमहु नाथ सब अवगुन मेरे।
गगन समीर अनल जल धरनी, इन कै नाथ सहज जड़ करनी।
तव प्रेरित माया उपजाए, सृष्टि हेतु सब ग्रंथन गाए।
प्रभु आयसु जेहिं कहँ जस अहही, सो तेहि भाँति रहे सुख लहही।
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्हीं, मरजादा पुनि तुम्हरिय कीन्ही।
आदि।

मोटे अक्षरों वाले वाक्यों से कितना कोमल कटाक्ष किया गया है। राम जी समझ गए, कवि लिखता है—

सुनत विनीत वचन अति कह कृपालु मुसकाइ,
जेहिं विधि उतरहि कपि-कटक तात सो कहौ उपाइ।

इस मुस्कान में कितना सुंदर उपहास-भाव है। परिहास का अंश कुछ उसी तरह है जैसा उस समय था जब सुग्रीव ने आकर अपना अपराध मान लिया था और कहा था कि भगवान आप ही के माया-चक्र में पड़ा रहा। हाँ, मात्राओं में अंतर है। दोनों प्रसंगों में हास्य-रस का कुछ वैसा ही विकास है जैसा उस समय होता है जब हम किसी बालक पर क्रोध करते हैं और उसके क़सूर मान लेने पर उसे हँस कर छोड़ देते हैं।

सेतु बंध—समुद्र का पुल बँध जाने पर उसकी सुंदर रचना देख रामचंद्र जी ख़ुश हुए। कवि लिखता है—

देखि सेतु अति सुंदर रचना, बिहँसि कृपा निधि बोले वचना।

इस हास्य में एक तो संतुष्टि की हँसी (Smile of satisfaction) है और दूसरे वह हँसी है जो उस आनंद से पैदा होती है जो हमें किसी सुंदर कला के नमूने को देख कर होता है। इसीलिए रस्किन ने लिखा है कि सुंदर वस्तु से स्थायी प्रसन्नता होती है (A thing

of beauty is a joy for ever)। शिल्प-कला की इस सुंदर रचना ने राम जी को हर्षित कर दिया।

समुद्र पर से सेना उतरने लगी परन्तु वानरों के उतावलेपन से समुद्र पार करने का चित्र कवि ने यों खींचा है:—

सेतु बंध भइ भीर अति कपि नभ-पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरनि ऊपर चढ़ि-चढ़ि पारहिं जाहिं।

अस कौतुक विलोकि दोउ भाई, विहँसि चले कृपालु रघुराई।

यहाँ खेल वाली हँसी (laughter of hilarity) और 'नकेल' तोड़ हँसी (laughter of liberation) दोनों शामिल हैं। परन्तु हैं दोनों माधुर्य रूप में, क्योंकि कवि ने एक ओर 'कौतुक' और दूसरी ओर 'कृपालु' पर ज़ोर दिया है।

अब तनिक कठपुतलीपन का दृश्य देखिए। सच है,

क्या लुत्फ़ जो ग़ैर पर्दा खोले,
जादू वह जो सर पर चढ़ के बोले। ('नसीम'—लखनवी)

यही रावण जिस ने राम जी का मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा था कि—

'सागर सन ठानी मचलाई'

इस समय समुद्र पर पुल बँध जाने की खबर पाकर अद्भुत और भयानक रसों का ऐसा शिकार बना है कि सहसा उसके मुखों से निकल गया कि—

बाँधे जल निधि नीर निधि, जलधि सिंधु वारीश।
सत्य तोय निधि पंक निधि उदधि पयोधि नदीश।

'सत्य'-शब्द साफ़ बता रहा है कि रावण उभय रसों से प्रभावित है और उसे यकायक यक़ीन नहीं होता। इस समय वह अपने दसों मुखों से बोल रहा है और हर मुख से समुद्र का एक

नया नाम निकला है। अद्भुत-रस पैदा करने के लिये समुद्र की महिमा दस गुनी बढ़ा दी गई। प्रिय पाठकगण तनिक अपनी विचार-शक्ति से काम लेते हुए इस दस गुनी आवाज़ के साथ अद्भुत और भयानक रसों के चौंका देने वाले प्रभाव की नाटकीय कल्पना करें तो उन्हें बड़ा ही आनंद आएगा। रावण अपने कठपुतलीपन से ऐसा विवश हो गया कि उसे यह भी ख्याल न रहा कि वह भय को कहाँ प्रगट कर रहा है। कवि आलोचना करता है—

व्याकुलता निज समुझि बहोरी, बिहँसि चला गृह करि भय भोरी।

रावण झेंप गया, क्योंकि उस ने अपनी व्याकुलता राज-सभा में प्रगट कर दी थी। अब वह हँस कर उस झेंप को मिटाता हुआ घर चला जाता है।

दिल-बहलाव के साधन (Recreation)—कवि ने बड़ी सुन्दरता से राम और रावण की सेनाओं के दिल-बहलाव के साधनों का वर्णन किया है। हास्य-रस तो है ही और उसकी विवेचना भी की ही जायगी। परन्तु शायद फिर अवकाश न आए अतः कुछ प्रसंग के बाहर भी संकेत रूप में कहना आवश्यक जान पड़ता है। आपको महाकाव्य तथा नैतिक दृष्टि-कोण से दैवी और आसुरी दिल-बहलाव के साधनों के अन्तर पर विचार करने का बड़ा ही अच्छा मौक़ा मिलेगा यदि आप उभय प्रसंगों की तुलना स्वयं करें। राम की सेना में शान्त-रस-प्रधान साधन क्यों कवि-सम्मेलन सा रचा हुआ है और मित्रता की समता एवं स्वच्छन्दता का आनंद है, मानो हम किसी दैवी लोक में हैं और दूसरी ओर रावण की सभा में मदिरा, मांस, नाच रंग के आसुरी साधनों का दृश्य है जैसा शेक्सपियर-कृत 'हैमलेट' में दिखाया। इसी कारण मैं कहा करता हूँ कि कविवर शेक्सपियर ने अपने इस नाटक में भौतिकवाद का चित्रण करते हुए यह

दिखाया है कि उसकी ठोकर से आदर्शवाद कैसा चकनाचूर हो जाता है।

हां, तो हमें यहां हास्य-रस की व्याख्या करनी है। रामायण में हमें दो प्रकार के ऐसे हास्य मिलते हैं जिन की ओर हास्य-मर्मज्ञों का ध्यान कदाचित नहीं गया और यदि गया भी है तो गौणरूप से। पहले को हम माधुर्य-हास्य कहेंगे जिस में माधुर्य-गुण इतना प्रधान होता है कि ओठों पर मुस्कान तो स्थायी रूप से बनी रहती है पर खिलखिला कर नहीं हँसा जाता। यह गुण रामायण में इतना प्रधान है कि आदि से अंत तक पाया जाता है। राम जी के साथ तो मुदित मन की अवस्था मानो उनका एक स्थायी गुण बन कर रह गई है। वनोवास के समय भी जब इस अवस्था की तुलना भरत-शत्रुघ्न के खेद से की जाती है तो राह की देखने वाली स्त्रियां कहती हैं कि—

मन प्रसन्न नहिं मानस खेदा, सखि संदेह होत यहि भेदा।

दूसरा शुभ-हास्य, जिसमें न कवि साफ़ हँसता है और न कोई चरित, परन्तु चित्रण ऐसा होता है कि मुस्कान-बिना न पढ़ा जा सके।

कवि लिखता है—

सैल सृंग इक सुंदर देखी, अति उत्तंग सम सुभ्र बिसेखी।
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये, लछिमन रचि निज हाथ डसाये।

सजावट कितनी स्वाभाविक है परन्तु 'रचि'-शब्द साफ़ बता देता है कि इस में कला है।

तापर रुचिर मृदुल मृग छाला, तेहिं आसन आसीन कृपाला।

तपस्या में भी माधुर्य एवं कला का आनंद लीजिए। है मृगछाला परन्तु रुचिर एवं मधुर।

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा, बाम दहिन दिसि चाप निषंगा।
दुहु कर कमल सुधारत बाना, ...

मित्रता के स्वच्छंद व्यवहार का कितना सुन्दर चित्र है, परन्तु वीर-रस यहाँ भी मौजूद है।

प्रभु पाछे लछिमन वीरासन, कटि निषंग कर बान सरासन।

एक सच्चे 'एडीकाँग' की तरह लक्ष्मण यहाँ भी अपनी कर्तव्य-परायणता में सचेत हैं मानो उन्हें इस मनोविनोद की स्वच्छंदता से कोई लगाव नहीं।

पूरब दिसा बिलोकि-प्रभु देखा उदित मयंक,
कहत सबहि देखहु ससिहिं मृगपति सरिस असंक।

वीर-रस की प्रधानता देखिये कि चंद्रमा की मृगपति से उपमा दी गई है, नहीं तो बेचारे चन्द्रमा की पूछ शृङ्गार रस में चन्द्रमुखी के मुख से उसकी उपमा देने के सिवा और कहाँ होती?

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी, परम प्रताप तेज बल रासी।
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी, ससि केसरी गगन बन चारी।
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा, ...

रूपक कितना रोचक और वीररस प्रधान है। मुझे तो कहीं और चन्द्रमा का वीररस सम्बन्धी रूपक याद नहीं पड़ता। इस रूपक से स्पष्ट है कि बहरहाल वीर-रस में ही सही, पर राम की तबियत का झुकाव काव्य की ओर जा रहा है। तारा रूपी मुक्ताओं को बिखरा देख राम के हृदय में शृङ्गार-रस जाग्रत हो गया। दूसरे आधे पद में कहते हैं—

निसि सुन्दरी केर सिंगारा।

अब क्या था, मानो राम ने कवि-सम्मेलन में सब के सामने एक समस्या रख दी।

कह प्रभु ससि महँ मेचकताई, कहहु काह निज निज मति भाई।

सुग्रीव :—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई, ससि महँ प्रगट भूमि की झाँई।

सुग्रीव का झुकाव विज्ञान की ओर जान पड़ता है, पर है वही सिपाही वाला विज्ञान। कहीं लड़कपन में भूमि की छाया से ग्रहण पढ़ा होगा और गद्दा कहाँ से कहाँ लगा दिया। पर है कविता की वात, जिसमें काव्य-लिंग-अलंकार में तनिक से लगाव पर कार्य-कारण आदि का संबंध बाँध दिया जाता है। देखिए न, हनुमान जी को सञ्जीवन-मूल सहित पर्वत हाथ में लिये उड़ता देख फ़ारसी-कवि फ़ैजी ने अपनी रामायण में लिख दिया कि हनुमान जी इस तरह से पहाड़ उठाए हुए हैं :—

महे-नव चूँ व नाख़ुन आस्माँ रा

[जैसे नया चाँद अपने नख पर आकाश उठाए हुए है]।

आज-कल के किसी कवि-सम्मेलन में सुग्रीव ने यह पद पढ़ा होता तो मखौल की वाह-वाह से वातावरण गूँज उठता परन्तु राम जी के कवि-सम्मेलन में ऐसा नहीं हुआ। किसी ने समस्या-पूर्ति की कि :—

मारेहु राहु ससिहिं कह कोऊ, उर महँ परी स्यामता सोऊ।

लड़ाई के समय यह कथन अत्यन्त स्वाभाविक है परन्तु यह चित्र राम जी के रूपक के नितान्त प्रतिकूल है। आख़िर ठहरे कवि, जिसने जिधर से चाहा उधर से मज़मून बाँध दिया।

किसी ने कहा—

कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा, सार भाग ससि कर हर लीन्हा।
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं, तेहिं मग देखिय नभ पर छाहीं।

शृङ्गार-रस की कोमलता का कितना सुन्दर नमूना है। अब

चन्द्रमा अपनी असली जगह पर आ गया। कहते नहीं बनता कि चन्द्रमा बड़ा है या काम देव की स्त्री रति। खूब!

राम जी कहते हैं—

प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा, अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा।
विष संयुत कर निकर पसारी, जारत विरहवंत नर नारी।

जिह्वा से अनायास 'उफ़' निकल पड़ता है। राम जी स्वयं वियोग-पीड़ित हैं अतः इस समस्यापूर्ति में उनके हृदय का स्वयं चित्र है। इसी आशय को लेकर हनुमान जी ने राम-वियोग का ज़िक्र सीता से किया है और ख़ूब किया है।

अब तनिक हनुमान जी की समस्यापूर्ति देखिए—

कह मारुत सुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास,
तव मूरति विधु उर बसति सोइ स्यामता भास।

मज़मून में भक्ति की कितनी सरसता है। कविता की विचार-दृष्टि से राम जी की कितनी कोमल चुटकी है। मानो हनुमान जी संकेत करते हैं कि जनाब भी तो 'स्याम' है, यह विष का मज़मून अच्छा बाँध दिया। अरे साहब! मज़मून यों बाँधिए जैसा मैं कहता हूँ। उर्दू साहित्य के ज्ञाताओं को 'मीर' और 'सौदा' तथा 'ग़ालिब' और ज़ौक़' की नोक-झोंक का लुत्फ़ आ जायगा। अस्तु।

राम जी हँस दिए। कवि लिखता है :—

पवन तनय के वचन सुनि विहँसे राम सुजान।

इस हँसी में हनुमान जी के प्रति कितना परिहास है और अपने प्रति कितना उपहास, इसकी तुलना करना कठिन है। फिर साथ ही गाम्भीर्य कोमलता का कितना विकास है, यह भी विचारणीय है। परिहास की कोमलता का कारण यह है कि राम जी सोचते होंगे कि हनुमान जी को भक्ति का खब्त है अतः समस्यापूर्ति भी

उसी का विकास है। परन्तु यही सत्व तो भगवान को आकर्षित करता है।

अब लङ्का की ओर संकेत करते हुए राम जी कहते हैं—

देखु विभीषण दच्छिण आसा, घन घमंड दामिनी बिलासा।
मधुर मधुर गरजै घन घोरा, होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा।

मानवी रूप में दूर से अनुमान कितना स्वाभाविक है और महाकाव्य के नायक रूप में 'तजाहुले-आरिफ़ाना' (जानते हुए अजान बनना) ग़ज़ब का है और गौण रूप में विभीषण की प्रथम परीक्षा है। विभीषण कहते हैं—

कहै विभीषण सुनहु कृपाला, होइ न तड़ित न बारिधि माला।
लङ्का सिखर रुचिर आगारा, तहँ दसकंधर देख अखारा।
छत्र मेघ डंबर सिर धारी, सोइ जनु जलध घटा अतिकारी।
मंदोदरी स्रवन ताटङ्का, सोइ जनु प्रभु दामिनी दमङ्का।
बाजहिं ताल मृदङ्ग अनूपा, सोइ रव सरिस सुनहु सुर भूपा।

राम जी के अनुमान की भूल महाकाव्य एवं हास्य, दोनों की विचार-दृष्टि से बड़ी ही सुन्दर है और साथ ही कितनी सूक्ष्मता से विभीषण की परीक्षा भी हो गई। यदि विभीषण बना हुआ राक्षस होता तो सारी परिस्थिति को छिपाए रहता। छिपाने का मौक़ा भी अच्छा था, क्योंकि राम जी स्वयं अनुमान में भूल कर रहे थे। प्रसंग से बाहर की बात है परन्तु क्योंकि साहित्यिक कला के ख्याल से बात बड़े मर्म की है इसलिये कह देना ही उचित है। जब रावण के 'छत्र मेघडंबर' पर बादलों का धोखा हुआ और मंदोदरी के कर्णफूलों से बिजली का, तो उनके आकारों की विशालता का कहना ही क्या? काव्य-कल्पना-शक्ति संसार के महाकवियों से कम नहीं। मुझे तो यह; मिल्टन के Paradise Lost में शैतान के डूबने की घटनायें याद आ जाती हैं। महाकाव्यकला क़ल्पनाशक्ति

की विशालता के विना चल ही नहीं सकती और आजकल के विज्ञान-युग में उस विशालता की गुंजाइश कम है। इसीलिये वर्नाडशा जैसे कलाकारों ने वायस्कोपी कला का सहारा लिया है और सर्व साधारण पर प्रभाव डालने के लिये वास्तविक मानवी व्यक्तियों के रूप को वैज्ञानिक लैम्पों के प्रकाश द्वारा वढ़ाकर प्रतिविंवरूप में दिखाया है। दोनों कलाओं में समानता और अंतर की वात आप .खुद विचार लेंगे।

राम जी के लिये कवि लिखता है—

प्रभु मुसकानि समुझ अभिमाना, चाप चढ़ाइ वान संधाना।

छत्र मुकुट ताटंक सव हते एक ही वान,
सब के देखत महि परे मर्म न काहू जान।

असि कौतुक करि राम शर प्रविशेउ आइ निपङ्ग,
रावन सभा ससंक सव देखि महा रस भङ्ग।

'घमंडी चरित नायक' के घमंड को वाण-कला के कौतुक से कैसा मिटाया है। यदि केवल कौतुक न होता तो वाण का प्रयोग मारने में किया जाता, न कि केवल छत्र आदि के गिराने में।

रस-भङ्ग का चित्र भी वड़ा ही सुन्दर है। कवि लिखता है—

कंप न भूमि न मरुत विसेखा, अस्त्रु सस्त्रु कछु नैन न देखा।
सोचहिं सब निज हृदय मँझारी, असगुन भयऊ भयंकर भारी।

यहाँ भयानक-रस की युक्ति में 'भ' का अनुप्रास विचारणीय है। अब रावण के कृत्रिम हास्य का रूप देखिए—

दसमुख देखि सभा भय पाई, विहँसि वचन कह युगुति वनाई।
सिरौ गिरे संतत सुभ जाही, मुकुट खसे कस असगुन ताई।

वाह रे खेलाड़ी रावन, कैसी अच्छी युक्ति वनाई है। शंकर जी के सामने कितने ही वार शिर चढ़ा चुका है और शिर का

गिरना उसके लिये शुभ हुआ है। आगे चल कर कवि स्वयं लिखेगा कि—

एक एक के कोटिन पावे।

हमारी कल्पना में अब रावण महाकाव्य-कला का बड़ा सुन्दर प्रतिनायक बन जाता है। इसी सिलसिले में आगे चलकर मंदोदरी ने रावण से पुनः प्रार्थना की है कि तुम राम से लड़ने-लायक़ नहीं हो, कवि लिखता है :—

सजल नैन कह युग कर जोरी, सुनहु प्रानपति बिनती मोरी।
कंत राम बिरोध परिहरहू, मानि मनुज जन मन हठ करहू।

बिस्वरूप रघुवंसमनि करहु बचन बिस्वासु,
लोक कल्पना बेद कर अङ्ग अङ्ग प्रति जासु।

पद पाताल सीस अज धामा, अपर लोक अङ्ग अङ्ग बिस्रामा।
भृकुटि बिलास भयंकर काला, नयन दिवाकर कच घनमाला।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा, निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दसबेद बखानी, मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ जम दसन कराला, माया हास बाहु दिगपाला।
आनन अनल अंबु पति जीहा, उतपति पालन-प्रलय समीहा।
रोम राजि अष्टादस भारा, अस्थि सैल सरिता नस जारा।
उदर उदधि अधि गो जातना, जगमय प्रभु की बहु कलपना।

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान,
मनुज बास चर अचर मय, रूप राम भगवान।

राम का छोटा सा रूप 'पिंडे सो ब्रह्मांडे' के सिद्धान्तानुसार विराट का ही लघु रूप है। कवि ने मंदोदरी द्वारा किस सुन्दरता से राम का वास्तविक रूप रावण के सामने रख दिया है। परन्तु आह, घमंडी चरित नायक अंधा हो जाता है। रावण के संबन्ध में कवि लिखता है—

विहंसा नारि वचन सुनि काना, अहो मोह महिमा बलवाना।

मानो उसके विचार में मंदोरी कर्णफूल पात की घटना से मोहित होकर अतिशयोक्ति का प्रयोग कर रही है।

नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुण आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया, भय अविवेक असौच अदाया।
रिपु कर रूप सकल तैं गावा, अति विशाल भय मोहि सुनावा।
सो सब प्रिया सहज बस मोरे, समुझि परा प्रसाद अब तोरे।
जानेउं प्रिया तोर चतुराई, एहि मिस कहे मोर प्रभुताई।

तीर लग चुका था, बालि के प्राण संकट में थे, अधिक वार्ता का अवकाश न था !

रावण-अङ्गद-संवाद में 'हाजिर जवाबी' की कला का पूर्ण विकास हुआ है ।

रावण—कह दसकंठ कौन तैं बन्दर ।

अङ्गद—मैं रघुबीर दूत दसकंधर ।

एक चरण में सवाल और एक में जवाब, और दोनों में प्रास, इसका लुत्फ़ नाटक-कला वाले ख़ूब जानते हैं ।

राम जी का आग्रह था कि रावण से ऐसी बात चीत करना जिस में उसका हित हो और हमारा काम भी बन जाय, इसलिये अङ्गद ने अपनी वार्ता अति विनम्रता से शुरू की है :—

प्रथम पद में क्रोध परन्तु दूसरे में हास्य स्पष्ट है।

अङ्गद—अङ्गद नाम बालि कर बेटा, तासों कबहुँ भई ही भेंटा।

अङ्गद के उत्तर में क्रोध का लेश नहीं, पर हास्य-रस का कटाक्ष-पूर्ण आघात बड़ा ही सुन्दर है। कवि लिखता है—

अङ्गद बचन सुनत सकुचाना, रहा बालि बानर मैं जाना।

झेंप साफ़ है पर देखिए, खेलाड़ी रावण कैसा पैतरा बदलता है :—

अङ्गद तहीं बालि कर बालक, उपजेउ बंश अनल कुल घालक।

दूसरा चरण तो इतना सुन्दर है कि बहुधा वार्ता में प्रयुक्त होता है।

गर्भ न गयेउ व्यर्थ तुम जायेहु, निज मुख तापस दूत कहायेहु।

दूसरा चरण हास्य-रस के व्यंग का बड़ा सुन्दर उदाहरण है।

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई, ...

प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है पर अङ्गद को मौक़ा मिल गया।

.... बिहँसि बचन तब अङ्गद कहई।
दिन दस गए बालि पहँ जाई, बूझेउ कुसल सखा उर लाई।

यहाँ ' मिताई ' का ' सखा ' के रूपान्तर में लाया जाना हास्य-रस की जान है। मानो अङ्गद कहते हैं कि जीवन-काल में ' मिताई ' थी तो अब मर कर भी ' सखापन ' का निर्वाह होना ही चाहिए।

अब रावण की दूसरी बात का उत्तर देते हुए अङ्गद कहते हैं -

हम कुल घालक सत्य तुम, कुल पालक दस सीस,
अंधहु बधिर न कहहिं अस, श्रवन नैन तव बीस।

सिव विरंच सुर मुनि समुदाई, चाहत जासु चरन सेवकाई।
तासु दूत होइ हम कुल बोरा, ऐसेहु मत उर विदर न तोरा।

चोटें ज्यादा कड़ी थीं। रावण तिलमिला उठा। कवि लिखता है—

कहत दसानन नैन तरेरी,

खल तव कठिन बचन सब सहहूँ, नीति धर्म सब जानत अहहूँ।

'नैन तरेरी' का वायस्कोपी असर देखिये। दूसरे पद में नीति एवं धर्म की आड़ में किस खिलाड़ी-पन के साथ रावण के वास्तविकता को छिपाया। असल मामला यह था कि अङ्गद को बालि-पुत्र जान कर ही रावण के होश ठीक हो गए। अङ्गद यह सब ताड़ गए अतः किस गज़ब का जवाब देते हैं—

कह कपि धर्म शीलता तोरी, हमहुँ सुनी कृत पर तिय चोरी।
देखेउ नयन दूत रखवारी, बूड़ि न मरहु धर्म व्रत धारी।
नाक कान विनु भगिनि निहारी, छमा कीन्ह तुम धर्म विचारी।
धर्म सीलता तव जग जागी, पावा दरस हमहुँ बड़ भागी।

'धर्म सीलता' का कई बार दुहराना और उसके साथ ही कटाक्षपूर्ण उदाहरण देना हास्य-रस की कितनी अच्छी मिसाल है और वाद-प्रतिवाद-कला (Debating power) का कितना अच्छा नमूना। आखिरी चरण व्यंग की ध्वनि और प्रगतियों के साथ बड़ा ही उत्तम है। अब रावण को भी कुछ क्रोध आ गया। वह कहता है :—

जन जल-पसि जड़ जंतु कपि, सठ विलोक मम बाहु,
लोकपाल बल विपुल ससि, ग्रसन हेतु जिमि राहु।
पुनि नभ सर मम कर निकर, कमलन पर करि बास,
सोभित भयउ मराल इव, संभु सहित कैलास।

यहाँ तक तो था क्रोध, अब मजाक का पैतरा देखिए :—

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अङ्गद, मो सन भिरहि कौन योधा बद।
तव प्रभु नारि विरह बल हीना, अनुज तासु दुख दुखी मलीना।
तुम सुग्रीव कूल द्रुम दोऊ, अनुज हमार भीरु अति सोऊ।
जामवन्त मंत्री अति बूढ़ा, सो किमि होइ समर आरूढ़ा।
सिल्प कर्म जानहिं नल नीला, ...

हास्य रस का यह चित्रण बड़ा ही रोचक है और व्यंग चित्रकला का बड़ा ही अच्छा नमूना है। प्रस्तुत प्रसंग से कुछ बाहर की बात है पर है अत्यावश्यक, अतः कह देना ही उचित है। वह यह कि तुलसीदास की नाटकीय एवं महाकाव्य-कला का एक विशेष गुण यह है कि वे द्वंद्वी एवं प्रतिद्वंद्वी को समान अवसर देते हैं। किसी एक पक्ष को शीघ्र ही गिरा नहीं देते। इस दृष्टिकोण से उनकी कला होमर (Homer) से अधिक मिलती है और मिल्टन (Milton) से नहीं। वे राम-भक्त अवश्य हैं परन्तु रावण को भी पूरा मौक़ा देते हैं। देखिए न, हास्य-कला में इस समय रावण के मुख से कैसा उत्तम चित्रण कराया है। पढ़ने वाला भी कुछ देर के लिये सहमत हो ही जाता है।

हनूमान जी के कार्यों का रावण पर फिर भी इतना प्रभाव था कि वह कहता है—

.... है कपि एक महाबल सीला।
आवा प्रथम नगर जेहिं जारा, ...

बस, फिर क्या था, अंगद को मौका मिल गया। कैसा तख्ता पलटा है। देखिए :—

..............................सुनि हँस बोलेउ बालि कुमारा।
सत्य वचन कहु निशिचर नाहा, साँचेहु कीस कीन्ह पुर दाहा।
रावन नगर अल्प कपि दहही, को अस झूठ सुनै को कहही।

प्रश्न क्या हैं, मज़ाक़ से कूट-कूट कर भरे हैं। इसका 'तजाहुल-आरफ़ाना' (जान-अनजानपन) और हनूमान जी को छोटा करके बयान करना हास्य-कला के बड़े ही सूक्ष्म प्रयत्न हैं। हनूमान जी के लिये अंगद फिर कहते हैं :—

जो अति सुभट सरायेहु रावन, जो सुग्रीव केर लघु धावन।
चलइ बहुत सो वीर न होई, पठवा खबर लेन हम सोई।

जिसकी रावण ने बड़ी तारीफ़ की थी, उसी का रंग उतार देना बड़ा ही सुन्दर हास्य-प्रयोग है।

अब जानेउँ पुर दहेउ कपि बिनु प्रभु आयसु पाइ,
फिर न गयेउ सुग्रीव पहँ तेहि भय रहा लुकाय।

रावण जिससे बहुत डरता था उसी का डरपोकपन कैसे मज़े से दिखाया गया है। साहित्य-कला से अनभिज्ञ जन सच-झूठ का सवाल बिलकुल फ़िज़ूल उठा देते हैं और यह भूल जाते हैं कि शास्त्रों में कुछ ऐसे अवसर हैं जिनमें झूठ बोलना पाप नहीं कहा गया, और उनमें से एक अवसर मज़ाक का है। अब रावण की विशेष युक्ति का उत्तर सुनिए।

सत्य कहेउ दस कंठ तव, मोहिं न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमरे कटक अस, तो सन लरत जो सोह।
प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति अस आहि।
जौं मृगपति बध मेडुकी, भल कि कहै कोउ ताहि।
जद्यपि लघुता राम कहँ, तोहिं बधे बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंध सुनु, छत्रि जाति कर रोष।

उत्तर अच्छा है पर सेनापतियों पर वैसी दौड़ती हुई व्यंगात्मक आलोचना अंगद से बन नहीं पड़ी। फिर भी बात खूब बनाई है और लड़ाई की ना-बराबरी का पल्ला अच्छा पलटा है। अंतिम

पद में राम की प्रशंसा अंगद के मुँह से सुन रावण ने अंगद का अच्छा मखौल उड़ाया है :—

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा, जहँ तहँ नाचहिं परिहर लाजा।
नाच कूद करि लोग रिझाई, पति हित करै धर्म निपुनाई।
अंगद स्वामि भक्त तव जाती, प्रभु गुन कस न कहसि यहि भाँती।
मैं गुन गाहक परम सुजाना, तव कटु रटनि करौं नहिं काना।

'तव जाती' में 'त्त्रि जाति' का कैसा सुंदर उत्तर है, मानो रावण कहता है कि भाई! त्त्रिजाति की प्रशंसा तो करते हो परन्तु अपनी कीस-जाति की बात तो सुनो। 'रटनि' शब्द में सिखाये हुए वंदर की युक्ति को कैसा निवाहा है, मानो अंगद की बातें वंदर की नाच कूद की तरह सिखाई हुई है। अब अंगद का 'गुन गाहक'-शब्द को पकड़ कर मजाक के उलट देने का लुत्फ़ देखिए—

कह कपि तव गुन गाहकताई, सत्य पवन सुत मोहिं सुनाई।
वन विध्वंसि सुत बधिपुर जारा, तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा।
सोइ विचारि तव प्रकृति सुहाई, दसकंधर मैं कीन्ह ढिठाई।
देखेउँ आइ जो कछु कपि भाखा, तुम्हरे लाज न रोप न माखा।

देखिए, किस सुंदरता से सचाई को पकड़ को भी बचा लिया और हनुमान जी द्वारा सारी बातें सुन उन पर आलोचना का अवसर भी खोज लिया। हनूमान जी के लिये अंगद ने कहा है कि वह डर के मारे सुग्रीव के पास नहीं गए और इसीलिये यहाँ ख़ुद अपने से उनको वार्ता करने का प्रसंग बयान किया। मानो अंगद का कथन है कि हनूमान सुग्रीव के पास तो मारे डर के नहीं गए परन्तु मुझसे सब हाल कहा है। अंतिम चरण में उस सहन-शीलता का कैसा मखौल है जिसे रावण ने 'गुन ग्राहकताई' कहा था और जिसके कारण अंगद के कटु वाक्यों का सहन करना स्वाभाविक बताया था। यह अंतिम चरण क्या है, श्रीवास्तव जी के शब्दों

में 'बर्छियों का चुभोना' है। तुलसी जी कवि भी हैं और आलोचक भी। देखिए, यह सारे प्रसंग की कैसी अच्छी आलोचना करते हैं—

वक्र उक्ति धनु वचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस ।
प्रति उत्तर सँड़सिन मनहुँ, काढ़त भट दससीस ।

बर्छियाँ चुभाने को ही कवि ने बाणों का रूपक कहा है और अब रावण की बड़ी कोशिश से उन बाणों का सँड़सी से निकालना बताया है। रावण हँसा जरूर, परन्तु अब उसका वार भी सीधा और कटु है :—

जो अस मति पितु खायेहु कीसा, कहि अस वचन हँसा दससीसा ।

सच पूछिए तो यह हँसी बेहयाई की है अन्यथा उत्तर बना नहीं। बात वही सँड़सी से निकालने वाले प्रयोग की है पर बाण निकले नहीं, टूट कर रह गए। अंगद ने किस तेजी से बात उलटी है सो प्रत्युत्तर कला का बड़ा ही सुंदर नमूना है :—

पितहि खाइ खातेउँ अब तोही, अब ही समुझि परा कछु मोही ।
बालि विमल जस भाजन जानी, हतौं न तोहि अधम अभिमानी ।

यह उत्तर देकर अंगद तुरन्त ही पहलू बदलते हैं और कैसे सुंदर प्रश्न करते हैं—

कहु रावन रावन जग केते, मैं निज स्रवन सुने सुनु जेते ।
बलिहिं जितन इक गयेउ पताला, राखा बाँधि शिशुन हय शाला ।
खेलहिं बालक मारहिं जाई, दया लागि बलि दीन्ह छुड़ाई ।
एक बहोरि सहस भुज देखा, धाइ धरा जिमि जंतु विसेखा ।
कौतुक लागि भवन लै आवा, सो पुलस्ति मुनि जाइ छुड़ावा ।

एक कहत मोहिं सकुचि अति, रहा बालि की काँख,
तिन महँ रावन तैं कौन, सत्य वदति तजि माख ।

हास्य सत्य घटनाओं का है और 'तजि माख' की चोट बड़ी सीधी

है। इन का जवाब देना वैसा ही खेलाड़ीपन के विरुद्ध होगा जैसा सीधी बर्छी को छाती पर लेना। इस समय खेलाड़ीपन इसी में है कि वार की जगह से हट जाय और अपना वार करदे। इसीलिये रावण ने अपनी निर्वलताओं का उत्तर नहीं दिया वल्कि अपनी कीर्ति के उज्ज्वल पट कोही सामने रख दिया। 'कौन से रावण' वाले प्रश्न का कितना सुंदर उत्तर है :—

सुनु सठ सोइ रावन वल सीला, हरि गिरि जानु जासु भुज लीला।
जान उमापति जासु सुराई, पूजेउ जेहिं सिर सुमन चढ़ाई।
सिर सरोज निज करन उतारी, पूजेउ अमित वार त्रिपुरारी।
भुज विक्रम जानहिं दिग्पाला, सठ अजहूँ जिनके उर साला।
जानहिं दिग्गज उर कठिनाई, जब जब भिरेउँ जाइ वरियाई।
जिन के दसन कराल न फूटे, उर लागत मूलक इव टूटे।
जासु चलत डोलत इमि धरनी, चढ़त मत गज जिमि लघु तरनी।
सोइ रावन जग विदित प्रतापी, सुने न स्रवन अलीक प्रलापी।

तेहिं रावन कहँ लघु कहसि, नर कर करसि वखान,
रे कपि वर्वर खर्व खल, तव न जान अव जान।

इस दोहे में गाली-गलौज तक की नौबत आ गई। घमंडी चरितनायक का चिड़चिड़ापन प्रगट हो गया और इसलिये अंगद को भी क्रोध आ गया। परन्तु रावण की बातें थीं सही, अतः अंगद भी उस युक्ति का प्रयोग करते हैं जिसे रावण ने किया। वे राम के लिये 'नर' शब्द के प्रयोग को ही पकड़ लेते हैं और उसी पर बाज़ी पलट देते हैं :—

सुनि अंगद सकोप कह बानी, बोलु सँभारि अधम अभिमानी।
सहस बाहु भुज गहन अपारा, दहन अनल सम जासु कुठारा।
तासु गर्व जेहि देखत भागा, सो नर किमि दससीस अभागा।
राम मनुज कस रे सठ वंगा, धन्वी काम नदी पुनि गंगा।

बैन-तेय खग अहि सहसानन, चिन्तामनि पुनि उपल दसानन।
सुनु मतिमंद लोक बैकुण्ठा, लाभु कि रघुपति भगति अकुण्ठा।

सैन सहित तव मान मथि, बन उजारि पुर जारि,
कस रे सठ हनुमान कपि, गयेउ जु तव सुत मारि।

हास्य-कला का तो सुन्दर उदाहरण है ही परन्तु महाकाव्य-कला में भी इस उत्तर का बड़ा आदरणीय स्थान है, मानो कवि स्पष्ट बता देना चाहता है कि आधिदैविक व्यक्तियों को उसी रूप को आधिभौतिक व्यक्तियों के साथ मिला न देना चाहिए। जैसे हनुमान को आधिभौतिक बन्दर न समझ लेना चाहिए और न राम जी को साधारण मनुष्य। अंगद जी स्वयं शान्त-रस पर आ गए अतः रावण से अपील करते हैं कि हास्य-रस की 'चतुराई' छोड़ राम-भजन कर। अपील कैसा जोरदार है, देखिए :—

सुनु रावण परिहरि चतुराई, भजेसि न कृपासिंधु रघुराई।
जो खल भयेसि राम कर द्रोही, ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही।
मूढ़ मुधा जनि मारसि गाला, राम बैर होइहि असहाला।
तव सिर निकर कपिन्ह के आगे, परिहहिं धरनि राम सर लागे।
ते तव सिर कन्दुक इव नाना, खेलिहहिं भालु कीस चौगाना।

जिन सिरों के उतारने की रावण ने बड़ी तारीफ़ की थी उन्हें किस सुन्दरता से वानर-भालुओं के गेंद खेलने का साधन बना दिया गया है।

तबकि चलिहि अस गाल तुम्हारा, अस विचारि भजु राम उदारा।
सुनत वचन रावन पर जरा, बरत महानल जनु घृत परा।

अंगद के वचनों की उपमा घृत से और रावण के दिल की जलन की उपमा अनल से कितनी समीचीन है। अब 'हाजिर-जवाबी' हास्य-रस की परिधि से बाहर निकलती जाती है। रावण कहता है—

कुम्भकरन अस बन्धु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि,
बीर पराक्रम सुनेसि नहिं जितेउँ चराचर झारि।

सठ साखा मृग जोरि सहाई, बाँधा सिंधु इहै प्रभुताई।
नाघहिं खग अनेक बारीसा, सूर न होहिं ते सुनु जड़ कीसा।
मम भुज सागर बल जल पूरा, जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा।
बीस पयोधि अगाध अपारा, को अस बीर जो पाइहि पारा।
दिगपालन मैं नीर भरावा, भूप सुजस खल मोहिं सुनावा।
जौ पै समर सुभट तव नाथा, पुनि पुनि कहसि जासु गुनगाथा।
तौ बसीठि पठवत केहि काजा, रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।

वार्ता गम्भीर अवश्य होती जाती है पर है अभी हास्य-रस की परिधि के भीतर ही। अंगद के बसीठी आने का कैसा अच्छा मखौल है। समुद्र के बाँधने का कितना हास्य जनक चित्रण है। हनुमान जी के समुद्र लाँघने का कैसा व्यंग पूर्ण उत्तर! आदि आदि।

सच है, यदि प्रतिनायक रावण सा न होता तो राम की विजय की प्रशंसा ही क्या?

हरि गिरि मथन निरखि मम बाहू, पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू।

सूर कौन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस,
हुते अनल महँ बार बहु हरषि साखि गौरीस।

रावण ने अपनी प्रशंसा में यही बात अब दुहराई है इसलिये वह अब 'घमंडी' से 'बकी' नायक के दर्जे में आ गया है।

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला, बिधि के लिखे अङ्क निज भाला।
नर के कर आपन बध बाँची, हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची।
सोइ मन समुझि त्रास नहिं मोरे, लिखा बिरंच जरठ मत भोरे।
आन बीर बल सठ मम आगे, पुनि पुनि कहसि लाज परित्यागे।

रावण की यह हँसी जिसका वह स्वयं जिक्र करता है, वस्तुतः

घमंड की इन्तहा की हँसी है। घमंड ने उसे इतना अन्धा बना दिया है कि भाग्य का लिखा जान कर भी बेपरवाई करता है। कविवर शेक्सपियर ने भी सीजर की ऐसे अपशकुनों की उपेक्षा बाँधी है। अस्तु। अङ्गद 'लाज' शब्द को पकड़ कर फिर दाँत-तोड़ जवाब देते हैं—

कह अंगद सलज्ज जग माहीं, रावन तोहिं समान कोउ नाहीं।
लाजवंत तव सहज सुभाऊ, निज मुख निज गुन कहसि न काऊ।
सिर अरु सैल कथा चित रही, तातें बार बीस तैं कही।
सो भुज बल राखे उर घाली, जीतेउ सहस बाहु बल बाली।

उत्तर बड़ा ही अच्छा है। अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बनने की निर्लज्जता और उसके बार बार दुहराने के बकीपन का ख़ूब मखौल उड़ाया है। भुजबल का कटाक्ष भी निहायत अच्छा है। अब जिस कथा को रावण ने दुहराया था उसका हास्य पूर्ण रूपान्तर देखिए—

सुनु मतिमन्द देहि अब पूरा, काटे सीस कि होइहि सूरा।
बाजीगर कहँ कहिय न बीरा, काटै निज कर सकल सरीरा।

जरहिं पतंग विमोह बस, भार बहइँ खर वृन्द,
ते नहिं सूर कहावहिं, समुझि देखि मति मन्द।

यहाँ तक हास्य-रस प्रधान है। अब आगे रौद्र-रस जोर पकड़ गया है अतः शेष सम्वाद नहीं लिखा जाता।

हम पहले ही बता चुके हैं कि संस्कृत एवं हिन्दी काव्य में कला का विभाजन रसों पर निर्भर है। हास्य-रस वहीं तक कहा जायगा जब तक हँसी आए। सूक्ष्मदर्शी कवि ने स्वयं अंगद से कहला दिया है कि अब बत-बढ़ाव मत कर आदि। रावण पर प्रभाव भी अब क्रोध रूप में होता है। कवि लिखता है—

सुनि सकोप कह निशिचर नाथा, अधर दसन दसि मींजत हाथा।

इस पद की वायस्कोपी कला विचारणीय है। ऐसे ही क्रोध-पूर्ण उत्तरों की वृद्धि होती गई, यहाँ तक कि रावण ने कहा—

अगुन अमान विचार तेहिं, दीन्ह पिता वनवास
सो दुख अरु युवती विरह,पुनि निसि दिन मम त्रास।
जिनके वल कर गर्व तोहिं ऐसे मनुज अनेक,
खाहिं निसाचर दिवस निसि, मूढ़ समुझि तजि टेक।

राम की ऐसी निंदा सुन अंगद को भी क्रोध आ गया। कवि लिखता है—

जव तेहिं कीन्ह राम कर निंदा, क्रोधवंत तव भयउ कपिंदा।
हरिहर निंदा सुनहिं जु काना, होइ पाप गोघात समाना।
कटकटानि कपि कुञ्जर भारी, दोउ भुज दंड तमकि महिमारी।
डोलत्ति धरनि सभासद खसे, चले भागि भय मारुत ग्रसे।
गिरत दसानन उठेउ सँभारी, भूतल परे मुकुट-पट चारी।
कछु तेहिं लै निज सिरन सँवारे, कछु अंगद प्रभु पास पँवारे।

चित्र है कि फ़िल्म-कला की जान। दोनों प्रतिद्वंद्वी क्रोध में हैं परन्तु पढ़ने वाला इस गड़वड़ को विना मुसकाए पढ़ नहीं सकता। वड़ी वड़ी वढ़वत्ती मारने वालों की कैसी ' कुकड़ू कूँ ' हुई है!

सूक्ष्मदर्शी पाठकगण इस वात पर विचार करेंगे कि क्या इससे पहले राम की निन्दा नहीं की गई थी परन्तु क्योंकि वहाँ दोनों ओर हास्य-रस प्रधान था अतः हास्य-रस की ही हाज़िर-जवावी होती रही। पर जव हँसी से निरहँस की नौवत आई तो दोनों ओर क्रोध उत्पन्न हो गया। मन्दोदरी की विभिन्न वार्ताओं के रावण द्वारा दिये गए उत्तरों में भी कवि ने रसों के इसी चढ़ाव-उतार पर ध्यान रखा है। वह मन्दोदरी की भय-जनक वातों पर हँस दिया करता था पर अन्त में मन्दोदरी की वात पर भी रावण को हँसी नहीं आई और उसके वचन भी वाण की तरह लगे। कवि लिखता है—

नारि बचन सुनि विसिख समाना, सभा गएउ उठि होत विहाना।

यहाँ न हँसी है और न प्रेमालिंगन।

अंगद ने क्रोध में न जाने कितनी बातें कहीं, पर अन्त में कहा कि—

गूलर फल समान तव लंका, वसहु मध्य तुम जन्तु असंका।
मैं वानर फल खात न वारा, आयसु दीन्ह न राम उदारा।

इस उपमा को सुन रावण को एक दम हँसी आ गई और उसे झेंप मिटाने का भी मौक़ा मिल गया। कवि लिखता है कि—

युक्ति सुनत रावन मुसकाई, मूढ़ सिखेसि कहँ बहुत झुठाई।
वालि न कबहुँ गाल अस मारा, मिल तपसिन तैं भयसि लवारा।

आगे का प्रसंग नितान्त वीर एवं रौद्र रस का है जिसमें हास्य आया ही नहीं इसलिये अब हम उसे नहीं लिखते।

अंगद द्वारा फेंके हुए-रावण मुकुटों का गिरना—हम देख चुके हैं कि रावण के गिरे हुए मुकुटों में से कुछ अंगद ने राम जी की ओर फेंक दिए थे। उनके विषय में कवि लिखता है :—

आवत मुकुट देखि कपि भागे, दिन ही लूक परन विधि लागे।
की रावन करि कोप चलाये, कुलिस चार आवत अति धाये।

इस अकारण भय और वस्तु-भ्रम पर रामचन्द्र जी को मुस्कराहट आई ही गई—

कह प्रभु हँसि जन हृदय डराहू, लूक न असनि केतु नहिं राहू।
ये किरीट दसकंधर केरे, आवत वालि तनय के प्रेरे।

कूदि गहे कर पवन सुत, आनि धरे प्रभु पास,
कौतुक देखहिं भालु कपि, दिन कर सरिस प्रकास।

संग्राम के मध्य में राम-रावण वार्ता—सभी महाकवियों ने कभी-न-कभी प्रति-द्वंद्वियों को द्वंद्व-युद्ध में आमने-सामने लाकर

वार्ता कराई है। इस कला में चरित-संघर्ष का बड़ा ही अच्छा आनंद आ जाता है अतः नाटक-कला वालों ने भी इस युक्ति का प्रयोग किया है। रावण कहता है—

जीतेउ जे भट संजुग माहीं, सुनु तापस मैं तिन सम नाहीं।
खरदूषण कवंध तुम मारा, वधेउ व्याध इव वालि विचारा।
निशिचर निकर सुभट संहारेहु, कुंभकरन घननादहु मारेहु।
वैर आज सव लेहुँ निवाही, जो रन भूमि भाजि नहिं जाही।
आजु करौं खल काल हवाले, परेउ कठिन रावन के पाले।

राम जी मुसकुरा पड़े। इस हँसी की व्याख्या बड़ी सुंदरता से कवि स्वयं करता है :—

सुनि दुर्वचन काल वस जाना, विहँसि वचन कह कृपानिधाना।

'कृपानिधाना' शब्द बता रहा है कि राम जी ने लड़ाई क्रोध से नहीं की, परन्तु कृपा-दृष्टि से। महाकाव्य-कला में रावण का उद्धार करना ही उन का हेतु था। साधारण राजनीति में भी राम जी की लड़ाई हिंसा की परिधि में नहीं आती, क्योंकि उन्होंने वसीठी भेज कर पहले इस वात का उद्योग किया है कि हमारा काम हो जाय और रावण का "हित" हो। उन्होंने युद्ध केवल कर्तव्य-रूप में विवश होकर ही किया। ऐसे युद्धों की गणना गीता में निष्काम कर्म और क़ुरान में 'जेहाद' में की गयी है।

अव राम जी का उत्तर देखिए जो है वड़े ही मर्म का, पर जिस में अहँकार नहीं :—

सत्य सत्य सव तव प्रभुताई, जलपसि जनि देखव मनुसाई।
जनि जल्पना कर सुजस नासहि, नीति सुनिहि करिहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिविध पानस रसाल पनस समा।
इक सुमन प्रद इक सुमन-फल इक फलहिं केवल लागहीं।
इक कहहिं कहहिं करहि इक इक करहिं कहत न वागहीं।

विनम्रता से क्षमा-प्रार्थी होना राम जैसे शुद्ध एवं उदार चरित्र-व्रती का ही काम है। आह, घमंड ने फिर भी रावण की आँख न खुलने दी। तनिक उसकी उल्टी हँसी देखिये—

राम बचन सुनि बिहँसि कह, मोहि सिखावत ज्ञान,
बैर करत तब कछु नहिं, अबहिं लागि प्रिय प्रान।

कपट-हास्य—याद नहीं है कि यह हास्य पूर्व ही कहीं गणना में आया है या नहीं, परन्तु क्योंकि है यह मार्के की बात अतः यदि पहले आ भी गई है तो भी पुनरुक्ति वैसा न होगी। 'कपट-हास्य' और 'परिहास' में अंतर यह है कि परिहास में परिहासकर्ता भी हास्य के ही भीतर होता है, पर कपट हास्य में वैसा नहीं होता।

कैकेई कोप-भवन में है। बाल खुले हुए, मानो सर्पिणी की, आँखें लाल, कपड़े अस्त-व्यस्त, आभूषण बिखरे हुए। राजा भयभीत हो जाता है और तरह-तरह से उसे प्रसन्न करने की बातें करता है, यहाँ तक कि राम की शपथ खाकर कहता है कि जो तू कहे वही करूँगा। चतुर कैकेई किस फुर्ती से पैतरा बदलती है। कवि लिखता है—

यह सुनि गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद,
भूषण सजतु बिलोकि मृगु मनहु किरातिनि फंद।

उपमा द्वारा कवि ने किस सुंदरता से बता दिया कि यह हास्य परिहास नहीं बल्कि कपट-हास्य है। मेरी समझ में तो तुलसीदास जी इसे शैतानी हँसी (Satanic laughter) कहेंगे, जैसा कि उन की उपमा से प्रगट है, न कि केवल कपट-हास्य। मैं इसे कपट-हास्य इसलिये कहता हूँ कि हमें कम से कम इतना मानना पड़ेगा कि कैकेई राजा से अपना मतलब निकालना चाहती थी। उसे यह खयाल भी न था कि राजा की मृत्यु हो जायगी। उसे यदि क्रोध था तो अपनी सौत कौशल्या के प्रति। यदि कोई वैसी वार्ता कौशल्या से होती तो मैं भी इसे शैतानी हँसी कह देता।

बेचारा राजा धोखे में आगया और बोला—

पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी, प्रेम पुलक मृदु मंजुल बानी।
भामिनि भयउ तोर मन भावा, घर घर नगर अनंद बधावा।
रामहिं देहुँ कालि युवराजू, सजहु सुलोचनि मंगल साजू।

इस वार्ता में नाटकीय विरोधाभास का मज़ा देखिए और राजा के भोलेपन तथा कैकेई की चतुराई के चरित-संघर्ष पर भी विचारिये।

कैकेई की चतुराई और मक्कारी की हँसी फिर देखिए :—

दलकि उठी पुनि हृदय कठोरू, जनु छुइ गयउ पाक बर तोरू।
ऐसेहु पीर बिहँसि तेहिं गोई, चोर नारि जिमि प्रगट न रोई।

ये दोनों पद सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला के बड़े ही सुंदर उदाहरण हैं। राजा की सरलता और कैकेई के कपट का और नमूना देखिए। किस चतुराई से कैकेई कहती है—

माँगु माँगु पै कहत पिय, कबहुँ न देहु न लेहु,
देन कहेउ बरदान दुइ, तेउ पावत संदेहु।

राजा के लिये कवि लिखता है—

जानेउ मर्म राउ हँसि कहई, तुमहिं कोहाब परम प्रिय अहई।
झूठेउ हमहिं दोष जनि देहू, दुइ के चार माँगि किन लेहू।

आदि।

अंतिम-कथन—जहाँ तक हो सका, हास्य-रस के प्रत्येक अंश के उदाहरण दे दिए गए हैं और हास्य-रस के ख़ास प्रसंगों की दौड़ती हुई आलोचना भी कर दी गई है। परन्तु फिर भी यह संभव है कि कुछ प्रसंग रह गए हों। अतः प्रिय पाठकों से प्रार्थना है कि उपर्युक्त व्याख्या की सहायता से उन्हें भी समझ लें। अंतिम खंड में व्यंग एवं कटाक्ष शब्दों का प्रयोग बहुधा पारिभाषिक अंतर के साथ नहीं हुआ। अतः पाठक गण सचेत रहें।

१९३७—१९३८ ई०

॥ इति ॥

69